पर्युषण पर्व व्याख्यानमाला

['तरुण जैन संघ' द्वारा आयोजित]

कलकत्ता, १९४०

प्रकाशक,

भँवरमल सिंघी

मन्त्री,

तरुण जैन संघ,

४८, इन्डियन मिरर स्ट्रीट,

कलकत्ता

मूल्य—आठ आने

मुद्रक—

नवयुवक प्रेस,

३, कमर्शियल बिल्डिंग्स्,

कलकत्ता

विषय-सूचि

रेखाचित्र

प्राक्कथन

सम्वत् १९९३ में बम्बई में हुए पर्युषण के व्याख्यानों की पुस्तिका की भूमिका में श्रद्धेय पंडित सुखलालजी ने व्याख्यानमाला की उपयोगिता और उसके प्रति बढ़ती हुई लोक-रुचि का वर्णन करते हुए यह भी लिखा कि "कलकत्ता जैसे शहरों में युवक लोग व्याख्यानमाला शुरू करने के विषय में विचार करें, इसमें तो देरी ही हो रही है, ऐसा समझना चाहिये।" पंडितजी के इन शब्दों में कलकत्ता के युवकों की प्रेरणा और उत्साह को आमत्रण था, परन्तु उसकी तरफ कलकत्ता के युवकों का ध्यान नहीं गया। मैं उस साल बनारस से अपना अध्ययन समाप्त कर कलकत्ता आया ही था। इसलिये इच्छा होते हुए भी मेरे लिये तो पंडितजी के आमत्रण को स्वीकार करना उस समय अशक्य ही था। परन्तु यह कल्पना तो उसी समय से मेरे मन में बराबर उठती रही कि कलकत्ता में भी पर्यूषण पर्व व्याख्यानमाला की शुरूआत की जाय। मौके मौके पर अन्य मित्रों से भी मै अपनी यह इच्छा

जाहिर करता रहा, और उनसे सहयोग की प्रार्थना भी करता रहा। हर वर्ष ज्यों ज्यों पर्युषण पर्व निकट आता, त्यों त्यों मेरी इच्छा व्याख्यानमाला का निश्चय कर डालने के लिये बलवती होती। और अब तक कलकत्ता के जैन समाज के सार्वजनिक कार्यों में मैं थोड़ा-बहुत भाग भी लेने लग ही गया था। इस बीच में पूज्य पंडित से जब कभी मिलना होता, तो इस क्रम को शुरू करने के बारे में उनसे और भी प्रेरणा मिलती। पंडित बेचरदासजी ने भी अपने दो-एक पत्रों में इस आवश्यकता की तरफ ध्यान खींचा। परन्तु तीन वर्ष योंही निकल गये।

जुलाई सन् १९४० में कुछ मित्रों ने मिल कर 'तरुण जैन संघ' की स्थापना की, जिसका उद्देश्य रखा गया—"समाज के उन सार्वजनिक सेवा की रुचि और भावना वाले नवयुवकों का संगठन करना जो सामाजिक, धार्मिक और राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रगतिशील विचारों के समर्थक हों, तथा जो बिना किसी जातीय अथवा सांप्रदायिक भेदभाव के जैन समाज में प्रगतिशील विचारों के प्रसार द्वारा क्रांति उत्पन्न करने की नीति में विश्वास रखते हों।" इस संघ की स्थापना होते ही मेरे ध्यान में फिर, दो महीने बाद ही आने वाले पर्युषण पर्व का खयाल आया, और वर्षों से इकट्ठी हुई प्रेरणा के साथ 'पर्युषण पर्व व्याख्यानमाला' का आयोजन करने की इच्छा अपने आप संघ के सदस्यों के सामने प्रकट हो गई। और मित्रों ने उसे स्वीकार करते देर न लगाई। निश्चय तो हमने कर लिया किन्तु पहले का कुछ भी

अनुभव न होने के कारण और समाज के अधिकांश लोगों की नवीनता-विरोधी मनोवृत्ति को जानते हुए, शुरु शुरू में हमें थोडी घबराहट सी हुई। हमने यह निश्चय किया कि जिन लोगों को पर्युषण पर्व के धर्म-कार्यों की चालू परम्परा में रस नहीं आता, जो उसमें भाग न लेने की इच्छा से घर पर ही बैठे रहते हैं, उनके उपयोग के लिये किसी एक सुविधाजनक छोटी सी जगह में व्याख्यानमाला का आयोजन किया जाय। लेकिन जब वक्ताओं के चुनाव का सवाल आया, तब तो और भी कठिनाई आई क्योंकि कलकत्ता के जैन समाज में योग्य और समर्थ विद्वानों और विचारकों की सख्या परिमित ही है। स्थानीय जैनेतर विद्वानों के नाम तो हमने चुने ही, पर चूँकि जैन समाज के विद्वानों को बुलाने की तरफ भी हम ने विशेप लक्ष्य रखा था, इसलिये बाहर से कुछ विद्वानों को बुलाने की चेष्टा करने का भी निश्चय हुआ। इसी छोटी सी कल्पना के साथ हमने व्याख्यानमाला के आयोजन की रूप-रेखा बनाई थी। पर, ज्यों ज्यों हमारे निश्चय की खबर समाज में फैलने लगी, त्यों त्यों उसके प्रति लोगों की रुचि और उत्सुकता देख कर हमारा उत्साह बढ़ता गया, और उसी समय से हमें व्याख्यानमाला की आशातीत सफलता नजर आने लगी। सर्व श्री प० सुखलालजी, किशोरलालजी घ० मशरूवाला, काका साहब कालेलकर, प० बेचरदासजी, महात्मा भगवानदीन, प० दरबारीलालजी, और जैनेन्द्रकुमारजी आदि मुख्य मुख्य जैन व जैनेतर विद्वानों को व्याख्यान-माला में आकर प्रवचन करने के लिये निमन्त्रण भेज दिया। और जब

सिवाय श्री किशोरलाल भाई और प० बेचरदासजी के सभी विद्वानों ने हमारा आग्रह स्वीकार कर लिया, तब तो हमारे उत्साह की सीमा ही न रही। श्रद्धेय काका साहब के इन शब्दों ने तो जैसे हमारे उत्साह के चार चाँद ही लगा दिये—

"बम्बई में जो पर्युषण-व्याख्यानमालाएँ चलती है, उनका असर बहुत ही अच्छा हो रहा है। श्री परमानन्द भाई और प० सुखलाल जी की वह एक सफल प्रवृत्ति है। धर्मप्रेमी लोगों में रूढि की दासता होती है। रूढ़ि तोडते धर्म-प्रेम भी क्षीण हो जाता है। बम्बई की पर्युषण-व्याख्यानमाला से धर्म-निष्ठा बढे, और साथ साथ उदारता, व्यापकता और बुद्धि-निष्ठा भी आ जाय, ऐसा वायुमण्डल पैदा हो रहा है। कलकत्ता में वैसी प्रवृत्ति चलाने का आपने ठाना है, यह अभिनन्दनीय बात है।"

ऊपरोक्त विद्वानों से कलकत्ता आने की स्वीकृति मिल जाने पर व्याख्यानमाला की हमारी शुरू की कल्पना तो जैसे कुछ भी नहीं रही, और पूज्य पडित सुखलालजी की इस सूचना के बावजूद भी कि "बम्बई आदि मे जैसा जन-प्रवाह है, कदाच कलकत्ते में वैसा न भी हो क्योंकि कलकत्ते मे उतनी और वैसी शिक्षा देखी नहीं जाती और ऐठ का अश भी शायद अधिक हो, जो परस्पर मिलने से रोकता है", हमें कलकत्ता का जन-प्रवाह व्याख्यान-माला के आयोजन की सूचना से आकर्षित हुआ मालूम पडा और

बाद में व्याख्यानों के दिनों में जो जैन और जैनेतर श्रोताओं की अपार भीड़ देखी गई, उससे हमारी यह धारणा सच्ची भी सिद्ध हुई।

'पर्युषण पर्व व्याख्यानमाला' की आवश्यकता और उपयोगिता के विषय में मैं यहाँ कुछ भी कहना नहीं चाहता क्योंकि मैं अपने आप को उसके लिये पूरा अधिकारी नहीं समझता। इस कमी को पूरी करने के लिये इस प्राक्कथन के बाद ही प० सुखलालजी, जिन्होंने ही व्याख्यानमाला का क्रम चलाया है, का एक वक्तव्य छाप रहे हैं। पाठक उससे देख सकेंगे कि व्याख्यानमाला चलाने का उद्देश्य क्या है। बम्बई में गत ६-७ वर्षों से यह क्रम चल रहा है, और जैसा श्रद्धेय काका कालेलकर के उक्त शब्दों से प्रकट है, उससे बड़ा लाभ हुआ है। और अब तो कलकत्ते के समाज को स्वयं इस क्रम की उपयोगिता मालूम हो चुकी है। हमें तो यह स्पष्ट मालूम होता है कि या तो इस व्याख्यानमाला के क्रम का स्थान स्थान पर प्रचार होगा जिससे युवक-मानस को स्पर्श करने वाली विचारधारा के विकास द्वारा धर्म-निष्ठा का पोषण और विकास होगा, अन्यथा युवक पर्युषण पर्व की चालू परम्परा को वाहियात समझ कर उससे मुख ही मोड़ लेंगे। क्योंकि जिस धर्म में समयानुकूलता नहीं होती, उसके प्रति शुद्ध जन-निष्ठा कायम नहीं रह सकती। इसलिये या तो युवकों में धर्म-निष्ठा जागृत रखने और विकसित करने के लिये इस क्रम का विस्तार करना होगा, अथवा पुरानी परम्परा की रक्षा (!) के लिये विनाश को ही बुलाना होगा। गांधी-सेवा-संघ के भूतपूर्व

प्रमुख और प्रसिद्ध विचारक श्री किशोरलाल घ० मशरुवाला ने भी "देश में विचार और कर्त्तव्य की जागृति उत्पन्न करने के लिये आज इस तरह की व्याख्यानमालाओं" की आवश्यकता पर बहुत जोर दिया है। भारतवर्ष के विभिन्न स्थानों में रहने वाले जैन युवकों को अपने अपने स्थान पर यह क्रम जारी करना चाहिये। इससे समाज की विभिन्न सम्प्रदायों में एकता का भाव उत्पन्न होगा, स्वतंत्र विचार-शक्ति को उत्तेजन और बल मिलेगा, और साथ ही व्यापक और उदार दृष्टि का विकास होने से धर्म के नाम पर होने वाला बहुत सा ऊहापोह मिट जायगा। श्वेताम्बर, दिगम्बर, और सम्वेगी, स्थानकवासी एवं तेरापंथी आदि सम्प्रदायों के भेद-भाव को छोड़कर जैन भाई-बहिनों को पर्युषणपर्व के पवित्र निवृत्तिमय दिनों में एक स्थान पर मिलने की प्रेरणा पैदा करने में यह व्याख्यानमाला बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई है। और जहाँ जहाँ यह व्याख्यानमाला अपने मूल ध्येय को कायम रखते हुए चलाई जायगी, वहाँ वहाँ इस दिशा में इसकी उपयोगिता सिद्ध हुए बिना नहीं रहेगी।

× × × ×

यद्यपि व्याख्यानमाला में दिये हुए सारे व्याख्यानों को पुस्तकाकार छपाकर प्रकाशित करने का निर्णय उसी समय कर लिया था और उसकी घोषणा भी कर दी गई थी, परन्तु इस कार्य को पूरा करने में काफी विलम्ब हो गया जिसके लिये पाठकों से क्षमा मांगने के अतिरिक्त और हम कर ही क्या सकते हैं। खास तौर से हमें उन

बन्धुओं से क्षमा-याचना करनी है जिन्होंने हमारी सूचना के अनुसार उसी समय पुस्तक का अग्रिम मूल्य भी जमा करा दिया था। आशा है, देरी होने के कारण जानकर वे भी हमें क्षमा करेंगे। देरी होने का एक मात्र कारण यही हुआ कि कई वक्ताओं से लिखे हुए व्याख्यान मिलने में बहुत विलम्ब हो गया। पुस्तक के प्रकाशन में देरी होने की बात अवश्य खटकने जैसी थी, परन्तु, सभी वक्ताओं के व्याख्यानों का संग्रह करने का लोभ भी हम संवरण न कर सके। इस लोभ के वशीभूत होकर ही हमने इतनी देरी हो जाने दी। श्री काका साहब और श्री जैनेन्द्रकुमारजी के व्याख्यानों के लिये काफी प्रतीक्षा करनी पड़ी, पर चूंकि उनके व्याख्यान इतने महत्व के थे कि किसी तरह से उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। हमें संतोष है कि इस देरी के कारण व्याख्यानमाला के पाठकों को जितनी प्रतीक्षा करनी पड़ी, उसके बदले उनको पूरा पूरा लाभ इस रूप में मिल जायगा कि एक व्याख्यान को छोड़ कर अब इस पुस्तक में सभी व्याख्यान आ गये हैं। इस तरह हमारी समझ मे पाठकों को देरी का पूरा पूरा एवजा मिल गया है। छपे हुए व्याख्यानों के विषय में इतना और जान लेने का है कि चूंकि वक्ताओं ने व्याख्यान बाद में लिखकर भेजे हैं, इसलिये सम्भव है कि बोलते समय जो कुछ कहा गया होगा, उसकी अपेक्षा इनमें कमी-बेशी हो गई हो। पर व्याख्यानों के विषय और विचारों में कोई फरक नहीं पड़ा है।

ये व्याख्यान कितने महत्वपूर्ण है, इसका विवेचन करने की मुझे जरूरत ही नहीं है। पाठक स्वयं ही जब इनको पढ़ेंगे तो उन्हें मालूम हो जायगा कि प्रत्येक वक्ता के भाषण में वाचन, चिंतन और अनुभव की कितनी गहरी विचार-सामग्री भरी हुई है। अनेक वक्ता तो अपनी विद्वत्ता और विचारशीलता के लिये भारतवर्ष भर में प्रसिद्ध है। ऐसे लोगों के व्याख्यानों के सम्बन्ध मे मै कुछ भी चर्चा करूँ, वह अनधिकार चेष्टा ही तो होगी। पर इतना तो स्पष्ट है कि जिज्ञासु पाठकों को इन व्याख्यानों में जीवन-शोधन को उत्तेजन देनेवाले विचारों की अपूर्व सामग्री मिलेगी।

यद्यपि पर्युषण वैसे जैनियों का ही खास पर्व है, परन्तु इस व्याख्यान-माला में तो जैनेतर वक्ताओं के भाषण भी सग्रहित हैं। इसलिये इस पुस्तक का प्रचार जैन समाज तक सीमित न रह कर सर्व साधारण में भी होगा। सर्व श्री काका साहब कालेलकर, डा० कालीदास नाग, सतीशचन्द्र दासगुप्त आदि विद्वानों के भाषणों का इसमें होना कोई साधारण विशेषता नहीं है। हमारी आशा है कि जिस तरह इन सब विद्वानों के नाम से व्याख्यान सुनने के लिये जैन और जैनेतर लोगों की कई हजारों की सख्या में उपस्थिति होती थी, उसी तरह इस पुस्तक के पाठकों की सख्या भी हजारों की होगी। जिनको व्याख्यानों के श्रवण की सुविधा नहीं हुई थी, उन्हें घर बैठे यह व्याख्यान मिल जावेंगे, और जिन्होंने श्रवण किया था, उन्हें अधिक धैर्यपूर्वक चिंतन और मनन करने का अवसर मिलेगा। यही इस पुस्तक को प्रकाशित करने का उद्देश्य है।

व्याख्यानमाला के समय उपस्थित होनेवाले जैन श्रोताओं के लिये कई वक्ताओं के दृष्टि-बिंदु बिलकुल नये होने के कारण उनके मन में कई तरह की जिज्ञासा और शकाएँ उत्पन्न होना स्वाभाविक था। इसलिये व्याख्यानमाला के शुरु में ही श्रोताओं से यह निवेदन कर दिया गया था कि किसी भी वक्ता के भाषण के किसी मुद्दे पर अगर किसी सज्जन को किसी भांति की शका हो तो वह व्याख्यान के बाद उस वक्ता से मिल कर चर्चा द्वारा उस बात को समझ ले। हमें प्रसन्नता है कि व्याख्यानमाला में आनेवाले श्रोताओं ने शांति और धैर्यपूर्वक इस सूचना का पालन किया। सिर्फ श्री काका साहब कालेलकर के 'अहिंसा और विश्वविजय' शीर्षक व्याख्यान में जब महात्माजी के 'बछड़ा-वध प्रकरण' का समर्थन किया गया, तो श्रोताओं में से दो-चार सज्जनों में उत्तेजना आ गई और उन्होंने व्याख्यान-मंडप में ही चर्चा करने की इच्छा प्रकट की। किन्तु दूसरे दिन श्री काका साहब के यह कह देने पर—कि इस विषय में चाहिये उतना वे नहीं कह सके थे, इसलिये कुछ विशेष खुलासा की जरूरत थी—कोई विशेष ऊहापोह नहीं रहा। श्री काका साहब ने कहा कि वे लिखित रूप में बाद में उसकी चर्चा कर के अपनी बात को समझाने की चेष्टा करेंगे, और उस पर अगर कोई प्रश्न पूछा जायगा तो उसका उत्तर भी देंगे। अब श्री काका साहब ने हमें सूचित किया है कि 'जीवन-साहित्य' नाम की मासिक पत्रिका में प्रकाशित अपने एक पत्र में उन्होंने 'बछड़ा-प्रकरण' के सम्बन्ध में कही हुई अपनी बात का खुलासा किया है।

हम उस पत्र का आवश्यक अंश इस पुस्तक के अन्त में श्री काका साहब की इजाजत से छाप रहे हैं। इस सम्बन्ध में हम पूज्य पंडित सुखलालजी के शब्दों को दोहराते हुए यह कहना चाहते हैं कि, "पर्युषण की पवित्रता इसी में नहीं है कि दूसरा आदमी भी हमारी इच्छा अथवा मान्यता के अनुसार ही बोले, लिखे, या वर्तन करे, परन्तु हमारी श्रद्धा और इच्छा के विरुद्ध प्रसंग में भी हमारी उदारता कायम रहे, इसी में वह पवित्रता रहती है।" पर्युषणपर्व के पवित्र दिनों में तो हमें इतनी उदारता रखनी ही चाहिये।

इस निवेदन को मैं उन बन्धुओं को धन्यवाद दिये बिना समाप्त नहीं कर सकता जिनके सहयोग से व्याख्यानमाला का यह प्रथम आयोजन आशातीत सफलता के साथ सम्पन्न हुआ। 'तरुण जैन संघ' के सदस्यों के अतिरिक्त स्थानीय जैन सभा के युवकों ने व्याख्यानमाला के समय इकट्ठी होनेवाली हजारो श्रोताओं की भीड़ में उचित व्यवस्था करने में जिस तत्परता और योग्यता का परिचय दिया, वह प्रशंसनीय थी। मैं उन सज्जनों को भी धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता जिन्होंने प्रस्तावित 'जैन भवन' की भूमि पर श्री विजयेन्द्रसूरिजी महाराज के व्याख्यान के लिये निर्मित पंडाल व्याख्यानमाला के लिये देने की उदारता प्रदर्शित की। और कलकत्ता के तथा वर्धा, बनारस और दिल्ली आदि दूर के स्थानों से आए हुए विद्वान वक्ताओं के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करना भी मैं अपना फर्ज समझता हूं। अनेक कष्ट उठा कर भी कलकत्ता आकर और अपना बहुमूल्य समय प्रदान कर

हमारे प्रति उन्होंने जो कृपा की, उसके लिये हम सदैव उनके आभारी रहेंगे। इसके साथ साथ उन सज्जनों के प्रति भी आभार प्रकट करना मैं कैसे भूल सकता हूँ, जिन्होंने व्याख्यानमाला की उपयोगिता समझ कर उदारतापूर्वक हमें आर्थिक सहायता प्रदान की। और अन्तिम, किन्तु सब से जरूरी, धन्यवाद के पात्र हैं—श्रोतागण जिन्होंने प्रतिदिन व्याख्यानों में उपस्थित होकर व्याख्यानमाला की आशातीत सफलता में योगदान दिया। मैं इन सब लोगों के प्रति पुन: एक बार अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, और आशा करता हूँ कि भविष्य में भी इसी प्रकार 'तरुण जैन संघ' को उनका सहयोग मिलता रहेगा।

व्याख्यानमाला का क्रम तो प्रति वर्ष चला ही करेगा, इसलिये जैन समाज के नवयुवकों से मेरा अनुरोध है कि अपना अधिकाधिक सहयोग प्रदान कर इस क्रम को अधिक आकर्षक, अधिक व्यापक और अधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न करें। आज समाज और धर्म की प्रगति का पाया नवयुवकों पर ही ठहरा हुआ है, अतएव यदि वे अपने कर्तव्य-पालन में थोड़ी सी भी ढीलाई करेंगे तो उसके सब से कडुए फल उन्हें ही भोगने पड़ेंगे। 'तरुण जैन संघ' ने व्याख्यानमाला का जो यह क्रम शुरू किया है, उसमें यदि श्वेताम्बर, दिगम्बर, संवेगी, स्थानकवासी तेरापंथी, बंगाल, मारवाड़, थली और गुजरात आदि सभी प्रांतों के कलकत्ता स्थित युवकों का उदार और व्यापक दृष्टि को अपनाने वाला बुद्धिशाली वर्ग पूरा पूरा सहयोग और सहकार प्रदान करे, जिसका कि हमें पूरा विश्वास है, तो हम समाज, धर्म और राष्ट्र की एक अत्यन्त

वाञ्छनीय सेवा कर सकेंगे। समाज और धर्म के चारों तरफ फैले हुए जिस वातावरण से आज निराशा-सी हो रही है उसके स्थान पर हम देखेंगे—सामाजिक और धार्मिक सहिष्णुता की वृद्धि, सेवा और कर्तव्य की कल्याण-प्रद भावना का प्रकाश, तथा उदार, स्वतंत्र और व्यापक जीवन-दृष्टि का विस्तार। आशा है, सब के सहयोग से हमारी यह मंगल-कामना सफल होगी।

भँवरमल सिंघी
मंत्री
'तरुण जैन संघ'

पर्युषण-व्याख्यानमाला किस लिए ?

इस व्याख्यानमाला का उद्देश्य गुरु-पद प्राप्त करने या किसी के वास्तविक गुरु-पद का विनाश करने का नहीं है। उसी तरह इसका उद्देश्य पूजा-प्रतिष्ठा प्राप्त करने या अर्थ-प्राप्ति करने का भी नहीं है। जो लोग श्रद्धालु हैं, और आदर-भक्ति से पर्युषण की चलती परम्परा में रस लेते है, उन्हें क्रिया-काण्ड में से अथवा व्याख्यान-श्रवण से पराङ्मुख करने का भी इस व्याख्यानमाला का उद्देश्य नहीं है। तब इसका उद्देश्य क्या है, यह प्रश्न होना स्वाभाविक ही है।

आज अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध की दृष्टि से, राष्ट्रीय दृष्टि से और समाज तथा कुटुम्ब की दृष्टि से कितने ही ऐसे प्रश्न उपस्थित हो गये हैं और होते जाते है, जो किसी भी तरह बिलकुल उपेक्षणीय नहीं हैं और उनका धर्म के साथ कोई भी सम्बन्ध न हो, ऐसी भी बात नहीं है। इसलिए व्यावहारिक तथा धार्मिक दृष्टि से उन प्रश्नों की चर्चा करना जरूरी है। दूसरों की जरा भी परवाह किये बिना अपना तंत्र चलाने वाले किसी एकाकी पूंजीपति जैन व्यापारी को कोई राष्ट्र-सेवक आ कर नम्र शब्दों में कहे कि "आप स्वदेशी कपड़े पहनिए! और कोई बाधा न हो, तो

खादी का ही व्यवहार कीजिए। यह कांग्रेस का फरमान है। और जैन धर्म भी पहले पडोसी धर्म का अभ्यास करने के बाद ही विश्वधर्मी होने की शक्यता बतलाता है।" यह सुन कर उस पूंजीपति जैन के लिए भी राष्ट्रीय और धार्मिक दृष्टि से स्वदेशी वस्तु के विषय मे विचार या निर्णय करना आवश्यक हो जाता है। वैसे ही सोचिये कि एक भाई बहुत शान्त और वयोवृद्ध हैं। उनकी विधवा लघु पुत्री, भगिनी या पुत्र-वधू ने कुछ भूल की और उस भूल के परिणाम स्वरूप वह धर्म-संकट मे पड़ी हुई है। ऐसी हालत मे, वह भाई चाहे जितना शान्त, अलिप्त और जगत से विरक्त रहने के लिये प्रयत्न करने वाला हो, उस समय तो उसे धार्मिक दृष्टि से उस सामाजिक प्रश्न का हल करना होगा। वह गर्भ-हत्या होने देगा या प्रसूति-गृह मे उस बहिन को भेज कर दोनों जीवों को बचा लेगा या असाधारण साहस दिखा कर, यदि उस बहिन की इच्छा हो तो, पुनलग्न होने देगा? यह एक जटिल प्रश्न है। किसी विधवा ने बड़ों को पूछे विना ही चुपचाप पुनलग्न कर लिया हो तो सामाजिक निंदा के भय से उसके आप्तजन (बड़े-बूढ़े) उसे दुत्कारपूर्वक बाहर निकालने मे धर्म मानेंगे या उसे प्रेम-पूर्वक अपनाने में? यह प्रश्न भी उपस्थित होगा। पिता पर-देश-गमन और अंग्रेजी शिक्षा से चाहे जितना विरुद्ध हो, पर बालक और बालिकाएँ यदि उस मार्ग का अवलम्बन कर

लेते हों तो क्या पिता उनका त्याग करेगा या उन्हें अपनाकर उनमें किसी भी प्रकार का दोष प्रवेश नहीं होवे, इतनी ही संभाल रखेगा? यह भी धार्मिक और शिक्षा की दृष्टि से एक प्रश्न है। जहाँ एक ओर किसी भी प्रकार का सामूहिक या धार्मिक द्रव्य किसी न किसी स्थान पर जमा है, और कदाचित् धीरे धीरे बरबाद भी हो रहा है, वहाँ यदि कोई असाधारण राष्ट्रीय आवश्यकता महसूस होने पर या आर्थिक कठिनाइयों के कारण सामाजिक विप्लव के आरम्भ होने पर या धार्मिक गुरुओं को अधिक परिमाण मे शिक्षित करने की आवश्यकता प्रतीत होने पर कोई व्यक्ति प्रश्न करे कि उस अमानत स्वरूप पड़ी हुई रकम का इन कार्यों में उपयोग कर सकते है या नहीं? यदि नहीं कर सकते है, तो क्यों और कर सकते है, तो किस शर्त पर? ये सभी प्रश्न यदि आज मौजूद नहीं भी हों, तो कल तो आने ही वाले हैं। इसलिये सारा जीवन ही आज तो इन सभी प्रश्नों का तर्कपूर्वक समयानुकूल उत्तर चाहता है।

इसके लिए विचार-जागृति चाहिए, विविध प्रकार का वाचन और मनन चाहिए, निर्णय-शक्ति चाहिए। तरुण और वृद्ध दोनों वर्गों मे इन प्रश्नों की आज चर्चा हो रही है। हाईस्कूल और कालेज के तरुण छात्रों, वकीलो, डाक्टरों, प्रोफेसरों और अन्य शिक्षित लोगों के मानस में जब तब ये

प्रश्न उठने ही रहते हैं। इन लोगों में बहुत से तो इन प्रश्नों का निराकरण परम्परा से चली आई हुई धार्मिक दृष्टि से करना चाहते हैं, पर इन विचार-प्रेमियों में एक वर्ग ऐसा भी है जिसे पर्युषण की चालू परम्परा में रस नहीं आता, इसलिए वह इन पुण्य-दिवसों में प्राप्त हुए समय का उपयोग या तो बातचीत में, या इधर-उधर भटकने में अथवा अनावश्यक और अव्यवस्थित तर्क-वितर्क में करता है। इसके बदले उन्हें विचार करने की, विचार सुनने की और निर्णय करने की सुविधा दी जाय तो वे कदाचित् क्रिया-काण्ड की दृष्टि से नहीं, तो भी विचार और सदाचार की दृष्टि से तो जैन बने रहेंगे ही।

जमाना जब विचार-जागृति और ज्ञान के वातावरण के लिए उत्सुक हो, तब योग्य रूप से उस उत्सुकता को पूर्ण करने में ही कल्याण है। इसलिए वास्तव में यह व्याख्यान-माला पर्युषण की जो परम्परा चली आ रही है, उसकी सामयिक पूर्ति मात्र है। अधिक अच्छा और योग्य कार्य तो तब होगा कि जब धर्मगुरु खुद धर्म-स्थानों में इन सभी प्रश्नों पर विचार पूर्वक और उदारता पूर्वक असाधारण प्रकाश डालेंगे। वह समय जल्दी आवे, इसीलिये यह व्याख्यानमाला है। जब चारों ओर जिज्ञासा, ज्ञान और विविध तरह के विचारों का वातावरण पैदा होगा, तब आचार्य महाराजों के लिए भी इस भूमिका पर आना सरल हो जायगा, कारण कि वे जिन धर्मस्थानों में रहते हैं, वहाँ प्रकाश बहुत ही धीरे धीरे प्रवेश करता है। इसलिये ऐसी व्याख्यानमालाएँ केवल जिज्ञासुओं को ज्ञान की सीढ़ी पर चढ़ाने के लिये ही हैं।

—पंडित सुखलालजी

पर्युषणापर्व व्याख्यानमाला, कलकत्ता

सन् १९४० का

संक्षिप्त कार्य-विवरण

ता० २९ अगस्त से ४ सितम्बर सन् १९४० तक सात दिनों के लिये इस व्याख्यानमाला का आयोजन किया गया था। ये व्याख्यान नित्य शाम को ७॥ बजे से ९॥ बजे तक कालाकर स्ट्रीट मे प्रस्तावित 'जैन भवन' की भूमि पर निर्मित पंडाल मे हुए, जहाँ पर हजारों श्रोताओं की इतनी भीड जमा होती थी कि थोड़ी सी देर हो जाने पर सैकड़ों व्यक्तियों को पंडाल के भीतर खड़े रहने तक को जगह नहीं मिलती थी। इसलिये उन भाइयों को वापस लौट जाना पड़ता था। संतोष था तो

इतना ही कि पंडाल के बाहर भी लाउड-स्पीकरों की व्यवस्था रहने के कारण बहुत से व्यक्तियों को बाहर खड़े रहकर भी व्याख्यान-श्रवण का लाभ मिल जाता था। और सब से विशेषता की बात तो यह थी कि महिलाएँ भी बड़ी संख्या में रोज उपस्थित होती थीं। उनके लिये अलग बैठने का प्रबन्ध कर दिया गया था।

सारे सप्ताह में लोगों में बड़ा उत्साह देखा गया। बाहर से पधारे हुए विद्वानों का कलकत्ते की ओर भी जैन व जैनेतर, धार्मिक, साहित्यिक और सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा सन्मान व स्वागत किया गया। अनेक भाइयों ने उनके साथ वार्ता-चर्चा करके भी लाभ उठाया। व्याख्यानमाला पर बाहर से पधारे हुए विद्वानों के संयोग से विचार-शक्ति के विकास का मौका तो मिला ही, परन्तु स्थानीय जैन समाज के लाभ की सब से बड़ी बात जो हुई वह तो यह थी कि इस आयोजन मे जैन समाज की विभिन्न सम्प्रदायों जैसे दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी, तेरापंथी और विभिन्न फिर्कों जैसे गुजराती, मारवाड़ी, आदि सभी अंगों के लोग नित्य सैकड़ों की संख्या मे उपस्थित होते थे। जो एक दिन आ जाता था, वह दूसरे दिन आये बिना नहीं रहता था। इस अनायास मिले हुए ऐक्य को व्याख्यानमाला के आयोजन की सब से बड़ी सफलता माननी चाहिये।

व्याख्यानमाला के क्रम की समाप्ति के दिन समाज के विभिन्न अंगों की तरफ से व्याख्यानमाला के आयोजन के लिये 'तरुण जैन संघ' के प्रति जो प्रेमोद्‌गार प्रकट किये गये, तथा व्याख्यानमाला से मिले हुए लाभ की जो विवेचना की गई, उससे तो यह माना जायगा कि इस तरह के आयोजन समय और रुचि के अनुकूल तथा सर्वप्रिय होते हैं। यह भावना भी प्रकट की गई कि ऐसे आयोजनों का अन्य स्थानों मे भी प्रचार होना चाहिये। अब यहाँ प्रतिदिन की कार्यवाही की एक संक्षिप्त नोंध दी जाती है :—

वृहस्पतिवार, ता० २९ अगस्त सन् १९४०

(समय—सायंकाल ७॥ बजे)

आज के मनोनीत सभापति महामहोपाध्याय पंडित विधुशेखरजी शास्त्री के ढाका से वापस न आ सकने के कारण श्री छोटेलालजी जैन की अध्यक्षता में कार्यवाही प्रारम्भ हुई। वयोवृद्ध श्री पूरणचन्द जी सामसुखा ने मंगलाचरण-पाठ किया, उसके बाद 'तरुण जैन संघ' के अध्यक्ष श्री सिद्धराजजी ढड्ढा ने 'तरुण जैन संघ' की स्थापना और व्याख्यानमाला के क्रम की योजना के सम्बन्ध में एक लिखित वक्तव्य पढ़ा। तत्पश्चात् 'तरुण जैन संघ' के मंत्री श्री भँवरमलजी सिंघी ने व्याख्यानमाला के कार्य-क्रम आदि के सम्बन्ध में कतिपय आवश्यक सूचनाएँ देते हुए प्रारम्भिक वक्तव्य दिया। तब बनारस

हिन्दू विश्वविद्यालय में जैन धर्म और साहित्य के प्रोफेसर पंडित सुखलालजी का 'पर्युषणपर्व का महत्त्व और उसकी उपयोगिता' पर तथा हिसार से पधारे हुए महात्मा भगवानदीनजी का 'सफलता की कुँजी' विषय पर व्याख्यान हुए, जो इस पुस्तक में छपे हैं। दोनों व्याख्यानों के बाद सभापतिजी ने वक्ताओं को धन्यवाद देते हुए कार्यवाही समाप्त की।

शुक्रवार, ता० ३० अगस्त सन् १९४०

(समय—सायंकाल ७॥ बजे)

पंडित सुखलालजी की अध्यक्षता में आज की कार्यवाही प्रारंभ हुई। प्रारंभ में श्री इन्द्रचन्द दूगड द्वारा मंगलाचरण-गान हुआ। उसके बाद सभापतिजी ने आज के मनोनीत वक्ता श्री गगनविहारी मेहता और श्री जैनेन्द्रकुमार का परिचय दिया। श्री गगन-विहारी मेहता ने श्रोताओं के अनुरोध से 'देव और पुजारी' (Prophets & Priests) विषय पर अपना अंग्रेजी में लिखा हुआ भाषण न पढकर गुजराती में स्वतंत्र रूप से भाषण दिया। श्री जैनेन्द्र कुमार ने 'धर्म क्या है?' पर बड़ा सुन्दर प्रवचन किया। ये दोनों ही भाषण इसी पुस्तक में अन्यत्र छपे हैं। भाषणों की समाप्ति पर सभापतिजी ने दोनों वक्ताओं के भाषणों का सार समझाते हुए एक अत्यन्त लाभप्रद भाषण दिया। श्री भँवरमलजी सिंघी के दूसरे दिन के कार्यक्रम आदि के बारे में आवश्यक सूचनाएँ देने के बाद सभा का कार्य समाप्त हुआ।

शनिवार, ता० ३१ अगस्त सन् १९४०

(समय—सुबह ९ बजे)

अपने नियमित व्याख्यान-वाचन के बाद आचार्य श्री विजयेन्द्र सूरिजी ने 'पर्युषण पर्वाधिराज कर्तव्य' विषय पर व्याख्यान दिया।

(समय—सायंकाल ७॥ बजे)

आज के मनोनीत सभापति बंगाल एसेम्बली के अध्यक्ष माननीय खान बहादुर अजीजुल हक अकस्मात रुग्ण हो जाने के कारण उपस्थित नहीं हो सके, अत. श्री पूरणचन्दजी सामसुखा की अध्यक्षता में कार्यवाही सपन्न हुई। श्री रिखबचन्दजी डागा के मंगलाचरण-गायन के बाद कलकत्ता यूनीवर्सिटी के प्राचीन इतिहास और संस्कृति के प्रख्यात प्रोफेसर डाक्टर कालीदास नाग एम० ए०, डी० लिट० का अंग्रेजी में 'विश्व-संस्कृति में जैन धर्म का स्थान' (The Place of Jainism in world culture) विषय पर व्याख्यान हुआ। श्री भँवरमलजी सिंघी ने उस भाषण का लिखित सारांश हिन्दी में सुनाया।

बाद में श्री विजयसिंहजी नाहर ने कल्पसूत्र के आधार पर बने हुए महावीर स्वामी के जीवन सम्बन्धी स्लाइड्स का प्रदर्शन किया। तत्पश्चात् सभापतिजी ने डाक्टर नाग को और उपस्थित लोगों को धन्यवाद दे कर सभा विसर्जित की।

रविवार, ता० १ सितम्बर सन् १९४१

(समय—दोपहर में २ बजे)

स्थानीय मारवाड़ी छात्र-निवास के हाल में एक सभा दिन में

दो बजे की गई थी, जिसका उद्देश्य यह था कि अगर बाहर से पधारे हुए विद्वानों से किसी को किसी तरह के प्रश्न पर चर्चा करनी हो तो उसको ऐसा करने का मौका मिल सके।

इस सभा में महात्मा भगवानदीनजी ने अध्यक्ष का पद ग्रहण किया। उपस्थित लोगों में से कुछेक ने प्रश्न किये, जिनके सर्वश्री काका साहब कालेलकर, पंडित सुखलालजी, दरबारीलालजी और जैनेन्द्रकुमारजी ने उत्तर दिये। 'सर्वज्ञत्व' के प्रश्न पर विशेष चर्चा हुई। और भी कई प्रश्नों पर उत्तर दिये गये।

(समय—सायंकाल ६ बजे)

मनोनीत सभापति आचार्य जगदीशचन्द्र चटर्जी के आने में देर होने के कारण श्री बहादुरसिंहजी सिंघी की अध्यक्षता में कार्यवाही प्रारम्भ की गई। बाद में आचार्य जगदीशचन्द्रजी के आने पर, उन्होंने सभापति का आसन ग्रहण किया।

सर्वप्रथम श्री रिखबचन्दजी डागा ने प्रारंभिक मंगलाचरण किया, जिसके बाद पंडित सुखलालजी का 'जैन शास्त्रों में अहिंसा का व्यापक स्वरूप' और पंडित दरबारीलालजी का 'भगवान् महावीर की अहिंसा' विषयों पर व्याख्यान हुए। पंडित दरबारीलालजी का व्याख्यान इसी पुस्तक में अन्यत्र छपा है। दोनों वक्ताओं के भाषणों के बाद सभापति-पद से आचार्य जगदीशचन्द्रजी का अहिंसा के विषय पर और साथ ही जैन धर्म के अन्य मुद्दों पर सारगर्भित व्याख्यान हुआ। अन्त में सभापति को धन्यवाद देकर सभा विसर्जित की गई।

सोमवार, ता० २-६-४०

(समय—सायंकाल ७॥ बजे)

आज की कार्यवाही श्री काका कालेलकर के सभापतित्व में हुई। सर्वप्रथम श्री इन्द्रचंद दूगड का बंगला में प्रारम्भिक गायन हुआ। बाद में श्री काका साहब ने श्रीयुक्त सतीशचन्द्र दासगुप्त का परिचय कराया। और उनसे भाषण देने की प्रार्थना की। तब श्री सतीश बाबू का 'अहिंसा का पुनरुद्धार' विषय पर और श्री जैनेन्द्रकुमार का 'सीमित स्वधर्म और असीम आदर्श' पर और श्रीमती हीराकुमारी देवी का 'नारी और धर्म' पर व्याख्यान हुए। उसके बाद सब लोगों को धन्यवाद देकर सभा विसर्जित की गई।

मंगलवार, ता० ३-६-४०

(समय—सायंकाल ७॥ बजे)

'माडर्न रिव्यू' के यशस्वी सम्पादक श्री रामानन्द चटर्जी ने आज सभापति का आसन ग्रहण किया। श्री इन्द्रचन्द दूगड़ के गायन के बाद श्री जैनेन्द्रकुमार ने श्री काका साहब का परिचय दिया। उसके बाद श्री काका साहब का 'अहिंसा और विश्वविप्लव' पर अत्यन्त विचारपूर्ण भाषण हुआ। दूसरा भाषण आज पंडित दरबारीलालजी का 'निश्चय धर्म और व्यवहार धर्म' पर हुआ। दोनों ही व्याख्याता काफी प्रसिद्ध होने के कारण आज काफी भीड़ थी। श्री सभापतिजी ने एक सार-गर्भित भाषण दिया, जिसके बाद कार्य समाप्त हुआ।

बुधवार, ता० ४-६-४०

(समय सायंकाल ७॥ बजे)

आज की कार्यवाही मनोनीत सभापति कलकत्ता यूनीवर्सिटी के प्राच्य इतिहास और संस्कृति के प्रधानाध्यापक डा॰ बेनीमाधव बरुआ की अध्यक्षता में हुई। सर्व प्रथम श्री इन्द्रचन्द सुराणा का बंगला में एक सुमधुर गायन हुआ जिसके बाद श्री काका कालेलकर के पहले दिन के भाषण में बछड़ा-प्रसंग के बारे में प्रकट किये हुए विचारों को लेकर कुछ श्रोताओं में उत्पन्न हुए ऊहापोह के विषय में श्री भंवरमलजी सिंघी और श्री सिद्धराजजी ढड्ढा ने श्रोताओं के समक्ष यह निवेदन किया कि "प्रत्येक वक्ता को अपने विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता देने की हममें उदारता होनी चाहिये। किसी विषय में विचारों का अन्तर होना सम्भव है, और यह भी आवश्यक नहीं है कि अमुक वक्ता ने जो कहा, उसे हम स्वीकार ही करें। यह तो अपनी अपनी योग्यता और मान्यता का विषय है कि एक बात को कोई स्वीकार कर सकता है, कोई नहीं कर सकता। परन्तु उसके लिये अशांति पैदा करना तो अच्छी बात नहीं कही जा सकती।" तत्पश्चात् श्री काका साहब ने भी अपने आज के निश्चित विषय 'महावीर, बुद्ध और गांधी' पर बोलने से पहले बछड़ा-प्रकरण के सम्बन्ध में एक वक्तव्य दिया। तब 'महावीर, बुद्ध और गांधी, विषय पर श्री काका साहब का और 'जैन साहित्य' पर शांतिनिकेतन में हिन्दी के आचार्य श्री हजारी प्रसादजी द्विवेदी का

व्याख्यान हुआ। दोनों भाषणों के बाद सभापति डॉ० बरुआ ने जैन साहित्य और सस्कृति पर बडा विद्वत्तापूर्ण भाषण दिया।

तब 'तरुण जैन सघ' के मत्री श्री भँवरमलजी सिंघी ने व्याख्यान-माला के क्रम की समाप्ति पर अपना उपसहारात्मक भाषण दिया जिस में उन्होंने व्याख्यानमाला की सफलता पर हर्ष प्रकट करते हुए अपने समस्त सहयोगियों, व्याख्याताओं और श्रोताओं को धन्यवाद दिया और यह आशा प्रकट की कि भविष्य में जनता के सहयोग से यह क्रम और भी अधिक सफल होगा। उन्होंने अपने व्याख्यान में समाज के युवकों से इस ज्ञान-सप्ताह के बाद चारित्र्य और कर्मशक्ति के विकास की ओर ध्यान देने का अनुरोध किया। उन्होंने अहिंसा के रचनात्मक कार्यक्रम के महत्व और उपयोगिता पर भी विचार प्रकट किये।

इसके बाद श्रोताओं में से सर्वश्री गणेशलालजी नाहटा, रायबहादुर सखीचदजी जैन आदि सज्जनों ने व्याख्यानमाला की योजना के लिये 'तरुण जैन सघ' के प्रयत्न की प्रशसा करते हुए व्याख्यानमाला की उपयोगिता पर अपने विचार प्रकट किये और समाज से अपील की कि इस तरह के क्रम ही आज के समय के अनुकूल हैं, और इन से धर्म की भावना और चिन्ता-शक्ति बढ़ती है, इसलिये उनको सफल बनाने में सभी को मुक्तहस्त होकर सहयोग देना चाहिये।

श्रीयुत जैनेन्द्रकुमार ने बाहर से आए हुए वक्ताओं की ओर से 'तरुण जैन सघ' के मत्री और दूसरे सज्जनों के द्वारा प्रकट किये हुए उद्गारों का उचित जवाब दिया।

फिर उसी समय श्री गणेशलालजी नाहटा के सभापतित्व में, स्थानीय जैन सभा की ओर से बाहर से पधारे हुए विद्वानो का अभिनन्दन किया गया।

बृहस्पतिवार, ता० ५-९-४०

सुबह ७॥ बजे श्री विजयसिंहजी नाहर के 'कुमारसिंह हाल' में बाहर से आए हुए विद्वानो के साथ 'तरुण जैन सघ' के भावी कार्यक्रम के विषय में चर्चा करने के लिये कुछ नवयुवकों की एक परामर्श-सभा हुई। वहाँ सभी विद्वानों ने इस बात पर जोर दिया कि अहिंसा की सच्ची साधना के लिये नवयुवकों को रचनात्मक कार्यों में ही अपनी ज्यादा शक्ति लगानी चाहिये। और 'तरुण जैन सघ' को इसी बात पर अधिक जोर देना चाहिये।

'पर्युषण-पर्व व्याख्यानमाला' सम्बन्धी

आय-व्यय का विवरण

आय	व्यय
६१८) चन्दे से प्राप्त हुए	१६६) बाहर से आने वाले वक्ताओं के आने-जाने का मार्ग-व्यय
	८०) लाउड स्पीकरों की व्यवस्था
	६०) बिजली—रोशनी और पंखे
	८५) छपाई और स्टेशनरी आदि
	४०॥) पबलिसीटी खर्च और वेतन आदि
	३०) पंडाल की विशेष व्यवस्था
	२१=॥ साइन क्लाथ वगैरह बनाने का खर्च
	१६॥)॥ सवारी खर्च
	३७॥= पोस्टेज-तार आदि का खर्च
	१६≡॥ खुदरा खर्च
	६१२॥)॥
	५≡॥ बाकी जमा ('तरुण जैन संघ' के हिसाब मे)
६१८)	६१८)

पर्युषण-पर्व व्याख्यानमाला, कलकत्ता

(प्रथम वर्ष, सन् १९४०)

वक्ताओं का परिचय

पंडित सुखलालजी—आप जैन दर्शन और साहित्य के धुरंधर विद्वान तथा विचारक हैं। आजकल आप बनारस हिन्दू विश्व-विद्यालय मे जैन दर्शन के आचार्य हैं। आप ने अनेक जैन ग्रन्थों का सम्पादन कर अपनी अगाध विद्वत्ता का परिचय दिया है। आप की स्वतंत्र पुस्तकों और लेखों मे पांडित्य के साथ साथ उदार और व्यापक विचार-दृष्टि की एक असाधारण विशेषता होती है। व्याख्यानमाला के क्रम को शुरू करने का श्रेय आप ही को है। आप बाल्यावस्था मे ही अंधे हो

गये थे, लेकिन नेत्रों का अभाव होते हुए भी आप का अध्ययन अत्यन्त विशाल, विचार अत्यन्त गम्भीर और विवेक अत्यन्त जागृत, तथा वाक्-पटुता अत्यन्त विकसित है। जैन समाज में आपकी जोड का और कोई विद्वान् नहीं है।

श्री काका कालेलकर—आप भारतवर्ष के इनेगिने विचारकों में से है। एक प्रकाड लेखक और विचारक तो आप हैं ही, परन्तु एक सफल राष्ट्रीय कार्यकर्ता भी है। महात्मा गाधी के विचारों से प्रभावित हुए विद्वानों मे श्री काका साहव का ऊँचा स्थान है। हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओं मे आप हजारों पृष्ठ लिख चुके है। गाधीवादी विचारों के प्रमुख मासिक पत्र 'सर्वोदय' के आप ही सम्पादक हैं। आजकल आप अपना सब से अधिक समय राष्ट्रभाषा-प्रचार के कार्य में लगाते है। आप वर्धा में रहते हैं।

पंडित दरबारीलालजी—जैन शास्त्रों के कुशल पंडित होने के साथ साथ आप एक उच्च श्रेणी के विचारक, लेखक और वक्ता भी हैं। 'जैन-जगत्' में आपने 'जैन धर्म का मर्म' शीर्षक जो लेखमाला निकाली थी, उससे तथा अन्य लेखों एवं भाषणों से आप जैन समाज में काफी ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। आप की विचार-सरणी और विवेचन-शैली बडी प्रभाव-पूर्ण है। आजकल आप सर्वधर्म-समन्वय की प्रवृत्ति चलाते हैं। आप भी वर्धा मे रहते हैं।

डा० कालीदास नाग एम० ए०, डी० लिट०—आप प्राचीन कालीन भारतीय इतिहास और संस्कृति के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान और कलकत्ता यूनिवर्सिटी मे प्रोफेसर है। एक प्रसिद्ध वक्ता होने के कारण विभिन्न धार्मिक, साहित्यिक और संस्कृतिक संस्थाओं से आप का सम्बन्ध है।

श्री सतीशचंद्र दासगुप्त—बंगाल में खादी और ग्रामोद्योग सम्बन्धी रचनात्मक कार्यों की प्रसिद्ध संस्था 'खादी प्रतिष्ठान' के सस्थापक श्री सतीश बाबू एक सच्चे कर्मिष्ठ राष्ट्र-सेवक हैं। आप बंगाल केमीकल और फार्मस्युटिकल कम्पनी के प्रमुख उन्नायकों मे से एक थे। और उस कम्पनी से आप को हजारों रुपयों की आय होती थी, पर गाधीजी के प्रभाव से आप उसे छोड कर आजकल ग्रामोद्योग की प्रवृत्तियाँ चलाते हैं। आप गाधीजी के अहिंसात्मक विचारों के दृढ़ अनुयायी है। महात्माजी के सादे जीवन और गम्भीर विचारधारा का आप पर बड़ा असर पडा है।

श्री गगनविहारी मेहता—सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी लि० के कलकत्ता आफिस के मैनेजर और फैडरेशन आफ इण्डियन चेम्बरर्स आफ कामर्स के वर्तमान उप-सभापति श्री गगनविहारी मेहता व्यापारिक क्षेत्र मे तो प्रसिद्ध हैं ही, किन्तु आप एक विद्वान् विचारक, लेखक और वक्ता भी हैं। अंग्रेजी के आप बडे विद्वान् हैं, और उस भाषा मे आपने कई

लेख वगैरह लिखे है, जिनकी काफी प्रशंसा हुई है। इस पुस्तक मे छपे हुए भाषण से ही उनके विचारों की गंभीरता का पता चलता है।

महात्मा भगवानदीनजी—आप जैन समाज के वयोवृद्ध कार्यकर्ता है। आप साधु-वृत्ति और निस्वार्थ सेवा-भाव वाले गम्भीर विचारक है। आप आजकल हिसार (पञ्जाब) मे रहते हैं।

श्री जैनेन्द्रकुमार—आपने छोटी उम्र में ही अपनी कलापूर्ण रचनाओं के द्वारा हिन्दी-संसार मे उपन्यासकार और कहानी-लेखक के बतौर तो अत्यन्त ऊँचा स्थान प्राप्त किया ही है, पर आप एक मधुर वक्ता भी है। हिन्दी-संसार मे श्री जैनेन्द्र की विचारधारा का अपना स्थान है। हिन्दी के लेखकों मे उनका बहुत आदर और सम्मान है। आप दिल्ली मे रहते है।

पंडित हजारीप्रसादजी द्विवेदी—आप कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विश्व-विख्यात 'शान्ति निकेतन' में हिन्दी-विद्यापीठ के आचार्य हैं। हिन्दी साहित्य मे आप का बडा गहरा अध्ययन है जिसका परिचय, आपने हाल ही मे प्रकाशित अपने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' नामक ग्रन्थ मे दिया है। इस सिलसिले में आपने जैन-साहित्य का भी अच्छा अध्ययन

किया है। आप की कई पुस्तकें और लेख प्रकाशित हो चुके हैं, जिनका हिन्दी-संसार में आदर हुआ है।

श्रीमती हीराकुमारी देवी—आप जियागंज निवासी श्री बुधसिंहजी बोथरा की सुपुत्री हैं। लघु अवस्था मे विधवा हो जाने पर आपने अध्ययन और वाचन मे ही अपना समय लगाया है। आपने संस्कृत मे तीर्थादि परीक्षाएँ पास की हैं तथा आजकल बनारस मे पंडित सुखलालजी के पास रह कर जैन दर्शन का अध्ययन करती हैं। कलकत्ता के महिला समाज को आप से बहुत आशा है।

चित्रकार का परिचय

इस पुस्तक में कतिपय वक्ताओं के जो रेखा-चित्र छपे हैं, वे हमारे तरुण कलाकार श्री इन्द्रचन्द दूगड के बनाये हुए हैं। इनके विषय में विशेषता की बात यह है कि ये रेखाकृतियाँ चित्रकार ने व्याख्यानों के समय ही वक्ताओं के पास बैठ कर बनायी थीं। इन सफल कृतियों के लिये कलाकार को बधाइयाँ मिली हैं। हमे आशा है इनके छपने से व्याख्यानमाला की पुस्तक भी अधिक आकर्षक बनेगी।

श्री दूगड जियागंज (मुर्शिदाबाद) निवासी श्री हीराचंदजी दूगड के सुपुत्र हैं। चित्रकला की कोई व्यवस्थित शिक्षा प्राप्त नहीं होते हुए भी श्री दूगड ने अपने शौक से इस कला मे जितनी योग्यता और कुशलता हासिल करली है, वह वास्तव मे अभिनन्दन की बात है। उनके कई चित्रों पर पारितोषिक मिल चुके हैं। गत रामगढ़ कांग्रेस के अवसर पर विहार के ऐतिहासिक चित्रों के निर्माण-कार्य के लिये भारत के विभिन्न प्रान्तों से बुलाये हुए पाँच चित्रकारों मे श्री इन्द्रचन्द भी थे। श्री राजेन्द्रप्रसादजी ने इस कलाकार की प्रशंसा करते हुए कहा है कि "यह आश्चर्य की बात है कि यद्यपि इस युवक ने चित्रकला की व्यवस्थित शिक्षा प्राप्त कर कोई डिप्लोमा नहीं लिया है, पर चित्रकारी मे उन्होने उच्च योग्यता हासिल की है।"

हमे इस तरुण कलाकार से बड़ी बडी आशाएँ हैं।

पं० सुखलालजी

[चित्रकार—इन्द्र दूगड़

पर्युषण पर्व का महत्व और उसकी उपयोगिता

[वक्ता—पंडित सुखलालजी, हिन्दू यूनीवर्सिटी, बनारस]

—+•+—

त्योहारों की उत्पत्ति अनेक कारणों से होती है। प्रायः ऐसा देखा गया है कि किसी खास कारण से त्योहार का प्रारम्भ हुआ होता है और बाद में उसकी पुष्टि और प्रचार के समय अन्य कारण भी उसके साथ जुट जाते हैं। विभिन्न त्योहारों के भिन्न भिन्न कारण भले ही हों परन्तु उन सभी मे दो कारण तो सामान्य हैं—एक भक्ति और दूसरा आनन्द। किसी भी त्योहार के पीछे अथवा साथ मे अन्धभक्ति या सज्ञान भक्ति होती ही है। बिना भक्ति के त्योहार का

अस्तित्व रह नहीं सकता, क्योंकि उसके अस्तित्व और प्रचार का आधार जन-समुदाय होता है। इसलिए जब तक उस त्योहार के ऊपर उस जन-समुदाय की भक्ति होती है, तभी तक वह चल सकता है। इसी तरह आनन्द के बिना तो लोग किसी भी त्योहार मे रस ले ही नहीं सकते। खाना-पीना, हिलना-मिलना, गाना-बजाना, पहनना-ओढ़ना और ठाट-बाट इत्यादि का थोडा बहुत प्रबन्ध न हो, ऐसा कोई भी सात्त्विक किंवा तामसिक त्योहार दुनिया मे कहीं भी नहीं मिल सकता।

त्योहारों के स्वरूप और उनके पीछे रही हुई भावना को देखते हुए उत्पत्ति के कारणों को लेकर त्योहारो के मुख्य दो भेद हो सकते है—लौकिक और लोकोत्तर, अथवा मानुषी और दैवी। जो त्योहार भय, लालच या विस्मय जैसे क्षुद्र भावों मे से उत्पन्न हुए होते है, वे साधारण भूमिका के लोगों के योग्य होने से उन्हे लौकिक या मानुषी कह सकते हैं। उनमे जीवन-शुद्धि या जीवन की महत्ता का भाव नहीं होता किन्तु तुच्छ वृत्ति और क्षुद्र भावना ही उनके पीछे होती है। जो त्योहार जीवन-शुद्धि की भावना मे से उत्पन्न हुए होते हैं और जीवन-शुद्धि के लिये ही प्रचलित हुए हैं, वे उच्च भूमिका के लोगों के लायक होने से लोकोत्तर या दैवी कहे जा सकते है।

पहाड़ों और जंगलों मे बसने वाली भील, संथाल आदि

जातियो मे अथवा तो शहर और गावों मे बसने वाली छारा, वाघरी जैसी जातियों मे, और कई बार तो उच्च वर्ण की माने जाने वाली सभी जातियों मे जाकर के उनके त्योहार देखें तो तुरन्त ही मालूम होगा कि उनके त्योहार भय, लालच और आश्चर्य की भावना मे से उत्पन्न हुए है। ये त्योहार अर्थ और काम, इन दो ही पुरुषार्थों की पुष्टि के लिए प्रचलित होते है। नागपंचमी, शीतला सप्तमी, गणेश चतुर्थी, दुर्गा और काली-पूजा, ये भैरव और जगदम्बा की पूजा की तरह भय-मुक्ति की भावना मे से उत्पन्न हुए है। मोलाकत, मंगलगौरी, ज्येष्ठागौरी और लक्ष्मी-पूजा इत्यादि त्योहार लालच और काम की भावना मे से उत्पन्न हुए है और इसी के आधार पर चल रहे है। सूर्य-पूजा, समुद्र-पूजा और चन्द्र-पूजा इत्यादि के साथ सम्बद्ध त्योहार विस्मय की भावना मे से पैदा हुए है। सूर्य के प्रचण्ड तेज और अपार समुद्र की अनन्त उछलती हुई तरंगों को देख कर मनुष्य पहले-पहल तो दिङ्मूढ ही बन गया होगा और इसी मूढता—विस्मय मे से उनकी पूजा के उत्सव शुरू हुए होंगे।

ऐसे अर्थ तथा काम के पोषक त्योहार सर्वत्र प्रचलित होने पर भी वेधक दृष्टिवाले मनुष्यों के द्वारा प्रचलित दूसरी तरह के भी त्योहार हम देख सकते है। यहूदी, क्रिश्चियन और जरथोस्ती धर्म मे जीवन-शुद्धि की भावना मे से फलित कितने

ही त्योहार चल रहे हैं। इस्लाम मे खास कर के रमज़ान का पूरा महीना जीवन-शुद्धि की दृष्टि से ही पर्व के रूप मे चलाया गया है। इसमे मुसलमान केवल उपवास करके ही सन्तोष मान ले, इतना ही बस नहीं समझा जाता परन्तु इसके अतिरिक्त संयम को जीवन मे उतारने के लिये अन्य कितने ही पवित्र फरमान किए गए हैं। ब्रह्मचर्य पालना, सच बोलना, ऊँच-नीच या छोटे-बड़े का भेदभाव छोडना, आय का २½% सेवा करने वाले छोटे छोटे कर्मचारियों के लिये और १०% संस्थाओं तथा फकीरों की रक्षा मे खर्च करना, इत्यादि जो विधान इस्लाम मे हैं, वे रमजान महीने की पवित्रता सूचित करने के लिये पर्याप्त हैं। ब्राह्मण धर्म के त्योहार उनकी वर्ण-व्यवस्था के अनुसार अनेक तरह के हैं अर्थात् उनमे सभी भावनाओं वाले सभी प्रकार के त्योहार मिश्रित मालूम पड़ते हैं। बौद्ध त्योहार लोक-कल्याण और त्याग की भावना मे से यद्यपि पैदा हुए हैं, फिर भी जैन त्योहारों मे इन सब से एक खास विभिन्नता है और वह विभिन्नता यह है कि जैनों का एक भी छोटा या बड़ा त्योहार ऐसा नहीं है जो अर्थ या काम की भावना मे से अथवा तो भय, लालच और विस्मय की भावना मे से उत्पन्न हुआ हो या उसमे पीछे से मिली हुई ऐसी भावना का शास्त्र से समर्थन करने मे आता हो। तीर्थंकरों के किसी कल्याणक का निमित्त हो या दूसरा कुछ हो, परन्तु उस निमित्त

से चलनेवाले पर्व या त्योहार का उद्देश मात्र ज्ञान और चरित्र की शुद्धि तथा पुष्टि करने का ही रखा गया है। एक दिन के या एक से अधिक दिन के लम्बे, इन दोनों प्रकार के त्योहारों के पीछे जैन परम्परा मे मात्र यही एक उद्देश रखा गया है।

लम्बे त्योहारों मे खास छह अट्ठाइयाँ आती हैं। उनमे भी पर्युषण की अट्ठाई सब से श्रेष्ठ मानी जाती है। इसका मुख्य कारण उसमें आने वाला सावत्सरिक पर्व है। सावत्सरिक पर्व जैनों का सब से अधिक आदरणीय पर्व है। इसका कारण यह है कि जैन धर्म की मूल भावना ही इस पर्व मे ओत-प्रोत हो गई है। जैन अर्थात् जीवन-शुद्धि का उमेदवार सांवत्सरिक पर्व के दिन जीवन मे एकत्र हुए मैल को बाहर निकालने का और पुनः वैसे मैल से बचने का निश्चय करता है। इस पर्व के दिन सभी छोटे-बडे के साथ तादात्म्य साधने का और जिस जिससे दिल खट्टा हो गया हो उस उससे दिल साफ करने का आदेश है। जीवन मे से मैल दूर करने की घड़ी ही उसकी सर्वोत्तम धन्य घडी है और ऐसी घडी प्राप्त करने के लिए जिस दिन का आयोजन हुआ हो, वह दिन सब से अधिक श्रद्धेय माना जाय तो इसमें आश्चर्य नहीं। सावत्सरिक पर्व को केन्द्रीभूत मान कर उसके साथ दूसरे सात दिन मिलाए गए हैं और ये आठों दिन आजकल पर्युषण के नाम से पुकारे जाते हैं। श्वेताम्बर परपरा के तीनों

फिरकों में यह सप्ताह पर्युषण के नाम से ही विख्यात है और सामान्यत तीनों मे यह सप्ताह एक ही साथ शुरू होता है और पूरा भी होता है; परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय मे यह पर्व आठ के बदले दस दिन का माना जाता है और पर्युषण के बदले उसे दश-लक्षणी कहा जाता है। उनका समय भी श्वेताम्बर परंपरा से भिन्न है। श्वेताम्बरों के पर्युषण समाप्त होते ही दूसरे दिन से दिगम्बरों की दस-लक्षणी शुरू होती है।

जैन धर्म के मूल मे त्याग और तप की भावना मुख्य होने से इसमें त्यागी साधुओं का पद मुख्य है और इसी से जैन धर्म के तमाम पर्वों मे साधु-पद का सम्बन्ध प्रधान होता है। सांवत्सरिक पर्व अर्थात् त्यागी साधुओं के वर्षावास निश्चित करने का दिन और अन्तर्मुख होकर जीवन मे से मैल दूर करने का और उसकी पवित्रता बनाए रखने के निश्चय का दिन। इस प्रकार जीवन-शोधन की दृष्टि से इस दिन का बडा महत्त्व है, और उसके साथ सम्बद्ध इतर दिनों का भी उतना ही महत्त्व है। इन आठ दिनों में जैसे शक्य हो वैसे धंधा-रोजगार कम करने का, त्याग-तप अधिक करने का, ज्ञान-उदारता आदि सद्गुणों की वृद्धि का तथा जिनसे ऐहिक या पारलौकिक कल्याण हो ऐसे काम करने का लोग प्रयत्न करते है। प्रत्येक जैन को विरासत में ही पर्युषण के ऐसे संस्कार मिलते हैं कि इन दिनों प्रपंच से निवृत्त होकर यथाशक्य अधिक अच्छा काम करना।

इन्हीं संस्कारों के बल पर छोटा या बडा, भाई या बहन प्रत्येक पर्युषण आते ही अपनी अपनी त्याग, तप आदि की शक्ति आजमाने लगता है और चारों तरफ जहाँ देखो वहाँ जैन परम्परा में एक धार्मिक वातावरण श्रावण के बादलों की तरह घिर कर छा जाता है। ऐसे वातावरण के कारण हमें इस पर्व के दिनों में ये बातें दिखाई देती हैं—(१) प्रवृत्ति कम कर के, हो सके उतनी निवृत्ति और अवकाश प्राप्त करने का प्रयत्न, (२) खानपान और दूसरे कितने ही भोगों पर थोडा-बहुत अंकुश, (३) शास्त्र-श्रवण और आत्मचिन्तन की ओर झुकाव, (४) तपस्वी और त्यागियों तथा साधर्मिकों की योग्य प्रतिपत्ति—भक्ति (५) जीवों को अभयदान देने का प्रयत्न, (६) वैर विरोध भूल कर सब के साथ सच्ची मैत्री करने और रखने की भावना।

एक तरफ परम्परा-प्राप्त ऊपर के छह प्रकार के संस्कार और दूसरी तरफ सांसारिक झमटों के कारण पड़ी हुई बुरी आदतें—इन दोनों के बीच संघर्ष होता है। इसलिए पर्युषण के कल्याण-साधक दिनों में भी हम यथेच्छ और यथाशक्य उपर्युक्त संस्कारों का उपयोग नहीं कर पाते और धार्मिक विषयों के साथ अपने हमेशा के संकुचित तथा वैमनस्य उत्पन्न करनेवाले कुसंस्कारों को मिला कर प्रत्येक विषय में कलह, पक्ष-विपक्ष, तू-तू, मैं-मैं और विरोधी प्रसंग खडे करते हैं। इस तरह पर्युषण के बाद जीवन को कुछ उन्नत बनाने के बदले जहाँ

थे. वहीं आकर खड़े रहते हैं और बहुत बार तो उस स्थिति से भी नीचे गिर जाते हैं। इसलिए आजकल पर्युषण जैसे धार्मिक दिवसों का उपयोग अपने आध्यात्मिक जीवन के विकास में तो होता ही नहीं है परन्तु सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में भी हम उनका कुछ भी उपयोग नहीं कर पाते। हमारी सर्व-साधारण की भूमिका व्यावहारिक है। हम गृहस्थ होने से अपना सम्पूर्ण जीवन ही बहिर्मुख व्यतीत करते हैं, इसलिए आध्यात्मिक जीवन को तो छूने में भी असमर्थ हैं। परन्तु जिस प्रकार का जीवन-विकास हम चाहते हैं और प्रयत्न करने पर जिसे प्राप्त कर सकते हैं, उस प्रकार के अर्थात् सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन को हमने तुच्छ और व्यर्थ सा मान रखा है और इस तरह किसी तरह की योग्यता के बिना ही मुंह में जीभ है, इसलिए बका करते हैं कि जीवन तो आध्यात्मिक ही सच्चा है। ऐसी योग्यता-विहीन समझ से न तो आध्यात्मिक जीवन का विकास होता है और न सामाजिक या राष्ट्रीय जीवन ही सुधरता है। इसलिये हमे अपनी सुन्दर धार्मिक विरासत का उपयोग इस प्रकार करना चाहिये जिस से अपने सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन का सुधार हो और यदि आन्तरिक योग्यता हो तो आध्यात्मिक जीवन के ऊपर भी उसका अच्छा असर पड़े। पर्युषण पर्व का इस प्रकार से उपयोग करने के लिये दो वस्तुओं की विशेष आवश्यकता है—

(१) एक तो यह कि जैन धर्म ने अपनी विशिष्ट परम्परा के रूप मे कौन कौन से तत्त्व हमें दिए है और उनका सामाजिक तथा राष्ट्रीय कल्याण की दृष्टि से किस प्रकार उपयोग हो सकता है, यह समझना और (२) दूसरे यह कि पर्युषण की निवृत्ति का उपयोग इस प्रकार करना चाहिये जिससे अपने को, अपने पडोसी भाइयों को तथा अपने देश-बन्धुओं को लाभ हो और अपने सामाजिक जीवन की जनता मे तथा राज्य में प्रतिष्ठा हो। अपन हँसते चेहरे सब के आगे खडे रह सकें और अपने धर्म की श्रेष्ठता के लिए सदभिमान ले सकें। इसी कारण से हमने पर्युषण का उपयोग करने की पद्धति बदली है।

अपने मे मुख्य दो वर्ग हैं। एक ऐसा है कि उसे नया क्या है, पुराना क्या है, मूल तत्त्व क्या है, इन की कुछ भी खबर नहीं है, उसको तो जो रूढिया जीवन में मिली हैं, वे ही उसका सर्वस्व है। अपनी रूढ़िगत परम्परा के बाहर नजर डालने में और अपने संस्कारों के अतिरिक्त दूसरे के संस्कारों की ओर देखने मे भी उसे कोई अपराध हो रहा हो, ऐसा प्रतीत होता है। उसका जो अपना है, उसके अतिरिक्त कोई भी संस्कार कोई भी भाषा और कोई भी विचार असह्य मालूम होता है। दूसरा वर्ग ऐसा है कि उसके सामने जो कुछ आवे, वही उसे अच्छा लगता है। अपना कुछ भी नवीन सर्जन नहीं होता,

अपना कोई स्वतंत्र विचार नहीं होता, उसका अपना कोई निश्चित ध्येय भी नहीं होता। केवल जिस तरफ लोग झुकते हैं, उसी तरफ वह वर्ग भी झुक जाता है। इससे परिणाम यही होता है कि समाज के इन दोनों वर्गों से अपने धर्म के विशिष्ट तत्त्वों का व्यापक और अच्छा उपयोग नहीं होता है। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि लोगों में ज्ञान और उदारता का विकास हो, ऐसी शिक्षा दी जाय। इसीलिये परम्परा से होने वाले कल्पसूत्र के वाचन को न रख कर के हमने कुछ विशिष्ट विषयों पर चर्चा करना उचित समझा है। ये विषय जैन धर्म में अथवा सर्व-धर्म में प्राणरत हैं। इन की चर्चा हमने इस दृष्टि से करने का विचार किया है कि जिससे इन तत्त्वों का उपयोग सब क्षेत्रों में सब अधिकारी कर सकें, और आध्यात्मिकता कायम रख कर के भी सामाजिक और राष्ट्रीय कल्याण-मार्ग का अवलम्बन ले सकें।

इस अभिनव परम्परा से डरने का कोई कारण नहीं है। इस समय प्रचलित परम्पराएँ भी कोई शाश्वत तो हैं ही नहीं। जिस ढंग से और जिस प्रकार का कल्पसूत्र आजकल पढ़ा जाता है वह भी अमुक समय में और अमुक संयोगों में ही शुरू हुआ था। लगभग १५०० वर्ष पहले तो ऐसी लोक-सभा में और सब के सामने कल्पसूत्र का पाठ ही नहीं होता था। वह तो केवल साधु-सभा में और वह भी अमुक कोटि के

साधु ही पढ सकते थे। पहले तो वह रात मे ही पढा जाता था और दिन मे पाठ होने पर विशिष्ट संयोगों मे ही साधु-साध्वी भाग ले सकते थे। आनन्दपुर नगर मे ध्रुवसेन राजा के समय मे चतुर्विध संघ के सामने कल्पसूत्र पढ़ने की परिस्थिति उपस्थित हुई। ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होने का प्रासंगिक कारण तो उस राजा के पुत्र-शोक के निवारण का था, परन्तु वास्तविक कारण तो यह था कि उस समय सर्वत्र चौमासे मे ब्राह्मण सम्प्रदाय में महाभारत, रामायण और भागवत जैसे शास्त्रों के वाचन-श्रवण की खूब प्रथा थी। जनता उस तरफ खूब झुकती थी। बौद्ध सम्प्रदाय मे भी जिन-चरित और विनय के ग्रन्थ पढे जाते थे जिनमें भगवान् बुद्धके जीवन और भिक्षुओं के आचार का वर्णन आता था। इससे जनता मे महान पुरुषों के जीवन-चरित्र सुनने की और त्यागियों के आचार जानने की उत्कट रुचि उत्पन्न हुई थी। इस रुचि को तृप्त करने के लिये बुद्धिशाली जैन आचार्यो ने ध्रुवसेन जैसे राजा की घटना के बहाने कल्पसूत्र को जन-सभा में वाचन करना पसन्द किया। उसमें जो पहला जीवन-चरित्र नहीं था, वह बढ़ाया और केवल सामाचारी का भाग, जो साधुओं के समक्ष ही पढा जाता था, गौण करके प्रारम्भ मे भगवान् महावीर का चरित्र जोड़ दिया। और सर्व-साधारण को उस समय की रुचि के अनुसार अच्छा लगे वैसे

ढंग से और वैसी भाषा मे उसका सम्पादन किया। जब लोगों मे अधिक विस्तार पूर्वक सुनने की रुचि पैदा हुई, कल्पसूत्र की लोगों मे खूब प्रतिष्ठा होने लगी और पर्युषण मे उसका सार्वजनिक वाचन नियमित हो गया तब समय के प्रवाह के साथ संयोगों के अनुसार आचार्यों ने टीकाएँ लिखीं। वे प्राकृत और संस्कृत टीकाएँ भी पढ़ी जाने लगीं। १७ वीं शताब्दी तक की लिखी हुई और तत्कालीन विचारों से प्रतिध्वनित टीकाएँ भी एक अति प्राचीन ग्रन्थ के रूप मे पढ़ी और सुनी जाने लगीं। अन्त मे गुजराती और हिन्दी मे भी सब का अनुवाद हुआ और आज जहा तहा वे भी पढ़ी जाती है। यह सब अच्छा है और वह इसीलिए कि लोगों की भावना के अनुसार परिवर्तन होता रहा है। कल्पसूत्र अक्षरश भगवान महावीर के समय से ही चला आ रहा है और उनके समय मे जिस तरह पढ़ा जाता था उसी तरह आज भी पढ़ा जाता है, ऐसा मानने की कोई भूल न करे। लोक-श्रद्धा, लोक-रुचि और उपयोगिता की दृष्टि से जो परिवर्तन होता है, वह यदि बुद्धिपूर्वक किया जाय तो लाभदायक ही होता है।

कल्पसूत्र मे और उसके वाचन की जो पद्धति आजकल प्रचलित है उसमे सभी लोग रस ले सकें, ऐसा नहीं है। उसके कारण इस प्रकार है—(१) वाचन और श्रवण मे इतना अधिक

समय देना पडता है कि मनुष्य थक जाय और श्रद्धा के कारण यदि बैठा रहे तो भी विचार करने के लिए तो अशक्त ही हो जाय। (२) निश्चित पद्धति के अनुसार शब्दों का उच्चारण और अर्थों का स्पष्टीकरण होने से तथा निश्चित समय मे निश्चित भाग पूरा करना पडता है, इस कारण से भी वक्ता और श्रोता के लिए दूसरी चर्चा या दूसरी दृष्टि के अवकाश का अभाव। (३) उस वाचन के समय समाज की तथा देश की वर्तमान दशा की ओर उदार दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति का अभाव और इससे समाज तथा राष्ट्र में उपयोगी हो सके, ऐसी कल्पसूत्र मे से बातें खोज लेने की कमी। (४) श्रद्धा, भक्ति और प्रचलित रूढ़ियों के ऊपर इतना अधिक भार दिया जाता है कि जिससे बुद्धि, तर्क और स्वतंत्र जिज्ञासा सर्वथा नष्ट हो जाय। (५) वर्तमान परिस्थिति के बारे मे एकदम अज्ञान अथवा भ्रम और आंखो के सामने बिलकुल प्रत्यक्ष और स्पष्ट घटनेवाली घटनाओं को झूठा मान कर आँखें बन्द कर लेने की वृत्ति (जो कि रूढ़िवादियों मे अनिवार्य है) और भूत काल की एकमात्र मृत घटना को सजीव करने का एक तरफा प्रयत्न।

इन और इन जैसे इतर अनेक कारणों की वजह से अपना पर्युषण का कल्पसूत्र-वाचन नीरस जैसा हो गया है। इसका उद्धार करने की आवश्यकता है। वह बहुत अच्छी तरह से हो सके, ऐसे तत्त्व हमारे सामने है, यही ध्यान मे रख कर इस समय हमने हमारी दृष्टि के अनुसार परिवर्तन जाहिरा तौर से शुरू किया है।

सफलता की कुञ्जी
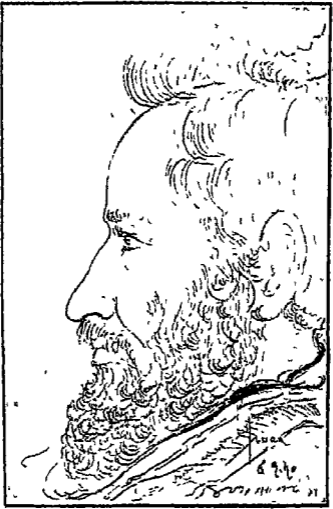
[ले० महात्मा भगवानदीनजी, हिसार]

महात्मा भगवानदीनजी

[चित्रकार—इन्द्र दूगड़

मैं जिस सफलता पर बोलूंगा, वह होगी मनुष्य के भीतर छिपी हुई एक शक्ति। उसी का विकास, उसी की प्राप्ति, उसी की खोज मेरे आज के व्याख्यान का विषय होगा। हा, इसमे संदेह नहीं कि उस शक्ति को पाकर मनुष्य धनाढ्य भी वन सकता है, पहलवान भी और ऊंचे से ऊंचे पद को भी पा सकता है। ये चीजें सफलता नहीं किन्तु सफलता के वाह्य रूप हैं। सफलता तो केवल मनुष्य के अन्दर निवास करने वाली एक महान शक्ति है जिसका ज्ञान होने पर मनुष्य वही हो सकता है जो वह चाहे। एक धनाढ्य मनुष्य निर्धन होने पर असफल नहीं माना जा सकता, यदि उसे सफलता-शक्ति का ज्ञान हो चुका है, ठीक इसी प्रकार पहलवान दुर्बल होने पर असफल नहीं समझा जा सकता। शक्ति का एक वार ज्ञान होने पर भुलाया नहीं जा सकता, वह आजीवन उसके साथ रहेगा, उसके काम आता रहेगा और उसे प्रसन्न वनाए रखेगा।

सफलता की कुञ्जी मे सफलता और कुञ्जी का वह सम्वन्ध नहीं है जो ताले की कुञ्जी मे ताले और कुञ्जी का, और वह सम्वन्ध भी नहीं है जो मकान की कुञ्जी मे मकान और कुञ्जी का परन्तु इसमे नया ही सम्वन्ध है यानी सफलता किसी कोठरी में वन्द है और उसमे ताला लगा हुआ है, उस ताले की कुञ्जी की हमे दरकार है। अव हमें यह देखना होगा कि वह ताला क्या है, कोठरी कैसी है और सफलता कहा छिपी हुई

है ? सफलता केवल ताला खोलने से न मिलेगी, दरवाजा खोलकर भी न मिलेगी, वह हमे प्राप्त होगी कोठरी तोड़ कर। अब मेरा कर्त्तव्य हो जाता है कि मैं आपको यह बतलाऊं कि वह सफलता किस कोठरी मे बन्द है। वह मनुष्य के अन्दर ही बन्द है। उस कोठरी की दीवारें मोह या माया की बनी हुई है। वे , दीवारें वंचना की ईंटो से कपट के गारे के साथ जोडी गई हैं. उन दीवारों पर आभास और भ्रम का प्लास्टर लगा हुआ है। उस कोठरी का दरवाजा अहंकार के किवाडो से बन्द है, जिसमें मद के पुश्तीवान लगे हुए हैं, मान की कीलें ठुकी हुई हैं, घमंड का पत्तर जडा है जिस पर गर्व का रोगन हो रहा है। इसी दरवाजे मे गुस्से का ताला लगा है जिसमे क्रोध का कुडा है और जिसके लीवर हैं कोप, रोष और आवेश। इतना ही नहीं पर इस कोठरी के अन्दर लोभ का बडा घना अन्धेरा है, जिस अन्धेरे की तृष्णा, स्पृहा, लिप्सा और लालसा तहे हैं, उस अन्धेरे मे सफलता कहीं छिपी हुई है। उसी को मनुष्य को ढूंढना है। इसलिए सिर्फ ताला खोल कर दरवाजा खोलने से काम न चलेगा किन्तु सफलता पाने के लिए हमको उस कोठरी की दीवारें तोड कर अंधेरे को दूर करना होगा। तभी हम सफलता को देख सकेंगे और पा सकेंगे। पा नहीं सकेंग किन्तु सफलता स्वयं हम से ऐसे आ चिपटेगी मानो वह मुद्दतों से हमारी बाट जोह रही हो।

सफलता और हमारे एक हो जाने पर एक जबरदस्त प्रकाश उत्पन्न होगा जिसकी रोशनी में कोठरी की दीवारें, किवाड़, ताला सब रहते हुए भी शीशे के समान पारदर्शी होकर रोक-टोक का काम न कर सकेंगे। बस, ऐसी सफलता कब किसे और क्यों मिलती है, यही मेरे आज के व्याख्यान का विषय है। इन प्रश्नों का उत्तर देकर मेरा वक्तव्य समाप्त हो जायगा।

ऊपर दिए हुए कोठरी के वर्णन को थोड़े से शब्दों में यह कहा जा सकता है कि गुस्सा, घमंड, मोह, और लालच यही सफलता के मार्ग में सब से बड़े बाधक हैं। इनको वश करना ही सफलता की ओर कदम बढ़ाना है, इनके वश होकर मनुष्य अपने आपको यह समझता ही नहीं कि वह दिखाई देने वाले देह के अतिरिक्त कुछ और भी है और इसलिए इनमें से किसी एक के वश होकर वह सफलता की प्राप्ति की बात सोचे बिना अपघात के द्वारा इस देह का अन्त कर डालता है और इस तरह सफलता से और भी दूर जा पड़ता है। संसार के किसी भी क्षेत्र में कोई भी सफल मनुष्य ऐसा नहीं खोजा जा सकता जिसने इन चारों को अपने वश में न कर लिया हो। यह कहावत ठीक ही है कि अपने को वश करना जगत को वश करना है।

सफलता की ओर कदम बढ़ाने की बात या तो उन लोगों को सूझती है जिनमें जन्म से ही गुस्सा, घमंड, मोह, लोभ, कम

होते है या उनको जो कभी किसी महापुरुष या अच्छी पुस्तक के सम्पर्क मे आगए हो। इन दो प्रकार के मनुष्यों मे थोड़ा सा अन्तर होता है। पहली प्रकार के मनुष्य सदा सफलता के मार्ग पर आगे ही बढते जाते है किन्तु दूसरी प्रकार के मनुष्य दौड़ते तो बहुत तेजी से है पर कभी बुरी तरह ठोकर खाकर गिर जाते है। फिर या तो वे कभी नहीं उठते या बहुत दिनो बाद फिर उठकर जोर लगाते है और इस तरह कई बार गिर-उठ कर उस तक पहुच जाते है। सफलता को पा कर मनुष्य फिर नहीं गिरते।

इस गिरने-उठने की वजह से मनुष्यों की अनेकों श्रेणिया हो जाती है। उन मनुष्यो की श्रेणी पहली मानी जा सकती है जिन्होने कभी सफलता की ओर कदम नहीं उठाया। दूसरी श्रेणी मे वे मनुष्य आते है जिनमे कारण पाकर कभी सफलता की ओर बढने का जोश उत्पन्न होता है, सफलता की ओर बढने के जोश मे वे अपने गुस्से, घमंड, लोभ, मोह को काबू मे रखते है। जिनमे इतने जोर का गुस्सा वगैरा है कि उस गुस्से मे वे अपना अपघात कर सकते है, ऐसे आदमी कभी दूसरी श्रेणी मे प्रवेश नही करते और सदा पहली श्रेणी मे ही पड़े रहते हैं। होता असल मे यह है कि उनको इस बात का ज्ञान ही नहीं होता कि उनके अन्दर एक बडी जबरदस्त शक्ति छिपी हुई है, जो सब कुछ काम कर सकती है जिसको

आस्तिक लोग आत्मा-परमात्मा के नाम से पुकारा करते हैं। दूसरी श्रेणी में इस शक्ति का विश्वास और ज्ञान होना अत्यावश्यक है।

तीसरी श्रेणी में वे मनुष्य आते है, जिन्हें सफलता की प्राप्ति में सन्देह होने लगता है। उन्हें ढिलमिल-यकीन के नाम से पुकारा जा सकता है। इस तीसरी श्रेणी में होकर उन व्यक्तियों को नहीं गुजरना पडता जिनमे जन्म से ही गुस्सा इत्यादि कम पाया जाता है।

चौथी श्रेणी उन लोगों की है, जिन्हे एक बार सफलता की ओर पग बढ़ाने की सूझी थी पर अब वे बिल्कुल हताश हो गए है। और उन्हें अपने अन्दर की शक्ति का रती भर भी विश्वास नहीं रह गया है। इस चौथी श्रेणी मे मनुष्य कुछ क्षण ही रहता है और उसके बाद वह पहली श्रेणी मे पहुंच जाता है। साधारण मनुष्यों में यही क्रम चलता रहता है। वे पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी और पहली मे घूमते रहते हैं। ऐसा मनुष्य कभी नेता नहीं बन सकता, महापुरुप बनने की नो बात ही क्या?

इन सब के बाद यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि क्या यह जानने की कोई बाहरी पहचान भी है कि कौन मनुष्य किस श्रेणी मे है? पहचानें है जरूर और वे बताई भी जायंगी पर उन पहचानों के जानने से पहले यह जरूर ख्याल रक्खा जाय

कि उन पहचानो का उपयोग दूसरो पर न किया जाकर अपने ही पर किया जाए। चरित्र की कसौटी पर दूसरो को कसना सफलता के मार्ग पर चलने वालो का काम नहीं, वे तो सदा अपने ही को कसौटी पर कसते और आगे बढ़ते है।

कौन मनुष्य दूसरी श्रेणी मे चढ गए है, उनकी पहचान बताने से शेष पहली, तीसरी, चौथी श्रेणी मे रहने वाले मनुष्यों की बात अपने-आप समझ मे आ जायगी। दूसरी श्रेणी के मनुष्य मे जो बाते अपने आप दिन पर दिन बढ़ती चली जाती है, उनमे से एक है "निर्भयता" यानी उसका डर दिन दिन कम होता चला जाता है। इसी निर्भयता का दूसरा नाम "सन्देह-मुक्ति" भी है। सफलता के मार्ग पर चलने वाले को उसकी प्राप्ति मे कोई संदेह भी नहीं रह जाता। डर और शंका मार्ग मे अन्धेरे और झाड़ी-झंकार का काम करती है। इनके रहते हुए एक कदम भी आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। जिस तरह डर कर कागज फाडने से टेढा-मेढा फट जाता है या जिस तरह डर कर बोतल से लेम्प मे तेल डालने से गिर जाता है, उसी तरह डर कर सफलता के मार्ग पर चलने से पाव असफलता की ओर बढ़ने लगता है। इसलिए पहली पहचान यही है कि जिन मनुष्यो मे जितना कम डर और संदेह पाया जाता है, उनको सफलता के मार्ग मे उतना ही आगे बढ़ा समझना चाहिए।

दूसरा गुण जो दूसरी श्रेणी के लोगों में देखने को मिलेगा, उसका सम्बन्ध उस लगन से है जो उनमे सफलता की ओर बढ़ने की होती है। उस लगन के कारण उनमे सफलता पाने के अतिरिक्त और किसी चीज की इच्छा रह ही नहीं जाती। वे अपने श्रम का कभी बदला नहीं चाहते, वे तीनों प्रकार के बदलों से बहुत ऊंचे उठते चले जाते हैं। उनके उस गुण का नाम 'निश्शुल्कता' रक्खा जा सकता है। तीन प्रकार के बदले होते है—काम के बदले काम, काम के बदले दाम, और काम के बदले इनाम। वे किसी की सेवा करके यह कभी आशा नहीं रखते कि वे उससे सेवा पायंगे और न किसी की सेवा करके वे पैसा पाने के इच्छुक होते हैं, वे यह भी नहीं चाहते कि जिनकी उन्होंने सेवा की है वे उनकी जा-बेजा तारीफ करें। वे अच्छी तरह से जानते हैं कि यह बदले सफलता के रास्ते मे डर से कम खतरनाक चीजें नहीं है। वे तो सफलता की प्राप्ति को ही अपने ध्येय की प्राप्ति मानते हैं। वे मानसिक और आत्मिक सुख को शारीरिक सुख से कहीं बड़ा मानते है। उनका यह विश्वास दिन पर दिन दृढ़ होता जाता है कि मानसिक और आत्मिक सुख शरीर को स्वस्थ बनाए रखने के लिए हर तरह काफी है। इसीलिए वे शरीर की ओर बिना देखे हुए भी उसको स्वस्थ बनाए रख सकते हैं।

तीसरा गुण जो उनमें पाया जाता, वह होता है प्रसन्नता।

दूसरी श्रेणी के लोग सदैव हसमुख पाए जाएंगे उनके हँसमुख रहने का कारण साफ है। उनको सफलता की प्राप्ति में इतना विश्वास हो जाता है कि सफलता उनको सामने दिखाई देने लगती है। वे बलपूर्वक यह कह सकते हैं कि उनका अमुक काम अमुक दिन पूरा हो जायगा। जिस तरह जंगल में भटके हुए मनुष्य का चेहरा सीधे रास्ते पर आकर खिल उठता है, ठीक उसी तरह से अविश्वास के जंगल में भटकते हुए विश्वास के सीधे पथ पर आने से प्रसन्नता चेहरे पर छा जाती है। सफलता-पथ के पथिक को लोक-संग्रह की आवश्यकता होती है। लोक-संग्रह के लिए प्रसन्न-वदन होना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए बिना प्रसन्नता के कोई मनुष्य सफलता के मार्ग में आगे नहीं बढ़ सकता। यह प्रसन्नता अर्जित नहीं करनी पड़ती। गुस्से, घमंड इत्यादि को काबू में लाने से अपने-आप उत्पन्न हो जाती है। जिस तरह कच्चा आम अपने-आप पकने पर पीला हो जाता है, ठीक इसी तरह गुस्सा, घमंड इत्यादि विश्वास की गर्मी पाकर प्रसन्नता में परिवर्तित हो जाते हैं।

चौथा गुण जो उनमें पाया जाता है, उसे 'निर्वैरता' के नाम से पुकारा जा सकता है। अब उनका कोई वैरी नहीं रह जाता। अगर कोई वैरी रह जाते हैं, तो वह होते हैं उनके दुर्गुण। सफलता के मार्ग में अपने दुर्गुणों के अतिरिक्त दूसरे

मनुष्य या और कोई प्राणी बाधक नहीं हो सकते। यदि ऐसा होता तो संसार में न कोई नेता बन सकता, न कोई महापुरुष। इसी 'निर्वैरता' के कारण उनमे यह चार बातें पैदा हो जाती है। वे न कभी किसी की बुराई करते, न कभी किसी की बुराई सुनना पसन्द करते। वे बुराई करते जरूर हैं, लेकिन सिर्फ अपनी। वे औरो के कसूर को अपना ही कसूर मानने लग जाते है। वे यह खूब जानते हैं कि यदि एक मनुष्य महापुरुष होकर जगत को तार सकता है तो एक नीच महापापी होकर डुबो सकता है। यही कारण है कि जब जब उनके साथी गल्तिया करते है तो वे अपने को ही उन सब का मूल कारण मानते हैं। वे अपने आप मियामिट्ठू नहीं बनते। और वे बन भी कैसे सकते है? जो दूसरों की गलती को अपनी गलती समझता है, उसे अपनी तारीफ़ करने का मौका ही कहा मिल सकता है? हा, वे दूसरे के गुणों का बखान करने मे कभी नहीं चूकते। ऊपर बताई हुई चार बाते भी उनमे अपने-आप आ जाती है, कुछ प्रयत्न नहीं करना पडता।

इस निर्वैरता से लगा हुआ एक गुण उनमे और उत्पन्न हो जाता है। उसको रोक-थाम के नाम से पुकारा जा सकता है। इस गुण की वजह से उन्हें मार्ग मे चलने में बड़ी सुविधा होती है। उन्हें अपने अभीष्ट स्थान पर पहुंचने की

इतनी फिक्र नहीं होती जितनी अपने साथियों को हताश न होने देने की। वे अपना बहुत सा समय उन साथियों को उत्साहित करने मे लगा देते है जिनको वह निरुत्साहित पाते है, उनकी भूलों को वे भूल ही नहीं मानते किन्तु उनको समझाते है कि यह भूले तो ऊपर चढने की सीढिया है। सफलता की यह परिभाषा कि वह असफलताओ का पुञ्ज है, ऐसे ही लोगों की बनाई हुई मालूम होती है। यह परिभाषा निरुत्साहित मे उत्साह फूंकने मे भंग का काम करती है। इस रोक-थाम गुण से औरो का लाभ हो या न हो, उनका अपना आत्मा खूब बल प्राप्त करता है और सफलता की मूर्ति क्षण क्षण स्पष्ट होती चली जाती है। संसार के बडे बडे विजेताओं मे यह गुण बहुत बडे परिमाण मे पाया जाता है। यही कारण है कि उनकी उपस्थिति मात्र से विपक्षी घबरा कर उनकी शरण आ जाता है। नहीं तो लाखों की संख्या मे एक व्यक्ति का मूल्य ही क्या।

ऊपर गिनाए हुए गुण जैसे और भी गुण उनमे प्रगट हो जाते है और इसीलिए वे अन्य मनुष्यों से पृथक किये जा सकते हैं और पहचाने जा सकते है। उन्हें पहचानने की जरूरत ही नहीं रह जाती। जो उन्हें पहचानने जाता है, वह उन्हें देख कर उनकी ओर इतना खिंचने लगता है कि उनमे मिल जाता है और उनको अपना ही समझने लगता है। उसे

यह बात याद ही नहीं रहती कि वह उसे पहचानने आया था। अविश्वास के झंझट में फसी दुनिया ऐसे लोगों को सिद्ध नाम से पुकारती है। जो उनसे मिलते नहीं, वे उन्हें जादूगर कहते हैं और इस तरह से अनेको नाम से वे पुकारे जाते है।

धीरे धीरे ऐसे लोगो की प्रसन्नता विश्व-प्रेम का रूप धारण कर लेती है और सफलता के तत्व उनके सामने इतने साफ़ हो जाते हैं कि जिस तरह हाथ पर रक्खा हुआ आवला।

जब सफलता एक है, तब राजनैतिक सफलता, आर्थिक सफलता, धार्मिक सफलता के तत्व अलग अलग नहीं हो सकते। सफलता के तत्वों का जानकार क्या राजनैतिक क्षेत्र, क्या आर्थिक क्षेत्र, क्या धार्मिक क्षेत्र सब मे सफल हो सकता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि सफलता नाम है उस शक्ति के ज्ञान का, जो हमारे अन्दर मौजूद है। तब सफलता के तत्व भी हमको अपने अन्दर से ही प्राप्त होंगे। उनको खोजने के लिए हमे दुनिया मे न घूम कर अपने अन्दर ही घूमना पड़ेगा। विचार करने से सफलता के तत्व यही हो सकते है—

१—हमारी शक्ति यानी हम। इसका और छोटा नाम "स्व" रक्खा जा सकता है। तब एक तत्व हुआ—स्व।

२—वह चीज जो हमारी शक्ति को नहीं जाने देती। यानी यह कि हम क्या हैं, इसका पत्ता नहीं लगने देती। एक ही शब्द में उसको "पर" कहा जा सकता है।

३—वह पर स्व तक कैसे आया ? यानी तीसरा तत्व हो सकता है "पर का स्व तक पहुंचने का रास्ता"।

४—इस पर को स्व मान बैठना। यह हुआ चौथा तत्व।

५—पर के स्व तक आने के रास्ते को रोक देना।

६—पर के स्व मानना छोड़ देना।

७—अपनी शक्ति को ही सफलता समझना।

राजनैतिक क्षेत्र मे अपने देशवासी "स्व" नाम से पुकारे जा सकते हैं। विदेशियों को "पर" नाम दिया जा सकता है। और इसी तरह शेष तत्व समझे जा सकते हैं।

आर्थिक क्षेत्र मे अपनी पूंजी "स्व" और दूसरे की लगी हुई पूंजी "पर" कही जा सकती है और सफलता पाने के लिए इस "पर" से ही छुटकारा पाने से काम चल सकता है।

धार्मिक क्षेत्र मे यही "स्व" आत्मा बन जाता है और गुस्सा, घमंड, रोष इत्यादि कर्म "पर" कहलाते हैं। आत्मा को समझना ही धार्मिक क्षेत्र में सफलता या मोक्ष नाम पाता है।

इन सब तत्वों को समझ कर दूसरी श्रेणी के मनुष्य तीसरी, चौथी श्रेणियो को लांघते हुए पाचवी श्रेणी मे प्रवेश करते हैं। और इसी तरह तेजी से आगे बढ़ते हुए वे अपनी शक्ति से मिल जाते हैं और वे साकार सफलता बन जाते हैं। फिर वे जिस क्षेत्र में भी प्रवेश करते हैं, सफल होते हैं पर अभिमान से दूर रहते हैं।

देव और पुजारी *

[वक्ता—श्री गगनविहारी मेहता; [कलकत्ता]

(१)

फ्रांस के प्रसिद्ध विचारक रोम्याँ रोलाँ ने एक बार कहा था कि "मनुष्य-जाति ने सदियों तक ईसामसीह के आने की प्रतीक्षा की पर जब वास्तव मे ईसामसीह दुनियाँ मे आया तो उसे फाँसी पर लटका दिया, और अगर फिर आवे तो वे उसे फिर फाँसी पर लटका देंगे।" यह बात सोचने में तो दु:खद मालूम होती है पर वास्तव मे है सच। सदियों के

* वक्ता ने अपना भाषण अंग्रेजी में लिखा था, उसका हिन्दी अनुवाद ही यहाँ दिया जाता है। —मन्त्री

धार्मिक और नैतिक विकास के बाद भी आज क्या मानव-जाति सत्य, शिव और सुन्दर के आदर्शों को समझने लगी है जिनकी स्थापना में दुनियाँ के महान पुरुषों ने अपना जीवन खपाया और मृत्यु तक का स्वागत किया। कभी कभी तो सचमुच यह शंका होने लगती है कि क्या वास्तव में इन महान पुरुषों के अवतार से संसार को कुछ लाभ हुआ है। आज पर्युषणपर्व के इस पवित्र सप्ताह में सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान, सम्यग् चारित्र रूपी रत्नत्रयी धर्म के प्रचारक चरम तीर्थङ्कर श्री महावीर की स्मृति को ताजा करने जब हम यहाँ एकत्र हुए हैं तो इस अवसर पर हमें ऐसी शंकाओं पर शान्ति से विचार करना चाहिये।

एक अंग्रेज विचारक मैथ्यू आरनोल्ड ने कहा है कि "Religion is morality touched by emotion" अर्थात् भावुकतामय नीति का ही नाम 'धर्म' है। हम जिसे 'धर्म' कहते हैं, वह एक गंभीर और व्यापक शब्द है। सच पूछिये तो मनुष्य को किसी चीज के सहारे की, आलम्ब की, उसमें विश्वास रखने की नितान्त आवश्यकता होती है। दुःख को सहने की और मौत और उसके भी परे परलोक का मुकाबला करने की हिम्मत साधारण आदमी में नहीं होती। उसे इस असीम विश्व में किसी सहारे की जरूरत होती है और यह जरूरत सदा धर्म पूरी करता आया है और विशेषकर उन

महापुरुषों की जीवन-कथा जिन्हें हम विभिन्न धर्मों के संस्थापकों के रूप में पहचानते हैं। बुद्धि कुछ भी कहे, आखिरकार व्यक्तिगत उदाहरण ही — किसी बुद्ध, किसी ईसामसीह, मुहम्मद या महावीर का जीवन ही — सदा हमारा पथ-प्रदर्शक रहता है। तभी तो यूनान के प्रसिद्ध विचारक अरस्तू (Aristotle) ने अपने नीति-शास्त्र में यह कहा है कि सदाचारी आदमी ही सदाचार परखने की अन्तिम कसौटी है और उसका जीवन ही सदाचार का जीता-जागता उदाहरण। सारा तर्क कर चुकने पर अन्त में हम इसी नतीजे पर पहुंचते हैं कि "महाजनो येन गतः स पंथा"—महापुरुष जिस मार्ग पर चले हैं, वही हमारे लिये श्रेष्ठ है। आज समानता के युग में शायद इस प्रकार की व्यक्ति की उपासना समयानुकूल न मालूम हो पर अन्तिम सत्ता प्रजा के हाथ में होते हुए भी तो उसके संचालन के लिये एक महान् और निरभिमानी नेता का होना जरूरी है। इसे आप पश्चिमी तानाशाही न समझें, जिसने सत्ता के मद से लिप्त राजनीति के द्वारा आत्मा की आवाज़ को दबा दिया है और जिसने जातीय भेद-भाव, घृणा और हिंसा के आधार पर एक प्रकार का जनून पैदा किया है। जो अवतारी पुरुष या पैगम्बर हुए हैं उन्होंने संसार के लिये ही संसार को छोडा है, सर्वस्व त्याग करके उस पर और भी अधिक अधिकार पाया है। और फिर हमें यह भी खयाल रखना चाहिये कि यह यूरोप और अमेरिका आदि

पश्चिमी देशों के आध्यात्मिक दिवाले का ही परिणाम है जो उन देशों में इस तरह के विषम सिद्धात घर कर सके हैं। वहाँ की तानाशाहियों ने धर्म का स्थान लिया हैं। इन दलों मे भी धर्म ही की तरह पूजा, क्रिया-काण्ड और प्रतीकों की कमी नहीं है। इतिहास बराबर यही सिखाता है कि सिद्धातो और आदर्शों की तरह व्यक्तित्व भी जनता पर उतना ही असर करता है। अवतारी पुरुष का एक आत्मत्याग—प्रेम और उदारता का एक भी काम—उसके पीछे आने वाले पट्टधर शिष्यों के सैंकड़ो उपदेशो और क्रिया-काण्डों से ज्यादा मानव-हृदय पर असर करता है। वास्तव में किसी भी धार्मिक आन्दोलन की यह विशेषता भी है और कमजोरी भी कि उसके प्रचार के लिये केवल सिद्धान्तों मे विश्वास होना ही काफी नहीं है परन्तु उन सिद्धातो मे जीवन डालने और समझाने वाले एक महान आत्मा की भी आवश्यकता होती है।

(२)

श्रीकृष्ण ने भगवद् गीता मे कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानम् सृजाम्यहम्॥

जब जब धर्म का ह्रास होता है और अधर्म का प्रसार, तब तब मैं अवतार लेता हूँ। जैन परम्परा के अनुसार भी समय

समय पर मानवजाति के कल्याण के लिये तीर्थंकर या अर्हत सत्य का ज्ञान कराने के लिये उत्पन्न होते है। अर्हत की श्रेणी मानव-विकास की सब से ऊची सीढ़ी है। इसी श्रेणी मे तीर्थं-कर मनुष्य के चरम लक्ष्य मुक्ति की प्राप्ति के लिये मोक्ष-मार्ग का उपदेश देते है। मनुष्य-समाज मे तीर्थंकर का स्थान उतना ही ऊचा है जितना अन्य धर्मों के पैगम्बरों या अवतारों का। यही महान पुरुष, चाहे उन्हे अवतार कहिये या पैगम्बर या तीर्थंकर, हमारे मार्ग मे ज्ञान का प्रकाश करते है।

पर, यदि हम जीवन को देखे तो धर्म केवल व्यक्तिगत या आध्यात्मिक चीज ही नहीं है। वह एक सामूहिक वस्तु भी है और धीरे धीरे प्रत्येक धर्म एक संस्था का रूप ले लेता है जिसके अपने विधि-निषेध के नियम और क्रिया-काण्ड बन जाते है। उसका एक संगठन खड़ा हो जाता है और उस संगठन मे मानने वाले और उसकी रक्षा करने वाले अनुयाइयो का समूह भी। जिस तरह प्रकृति मे प्रत्येक भाव का विरोधी भाव पैदा हो जाता है, वही हाल धर्म का भी है। संसार या तो महात्माओं की अवगणना करके या फिर उनके उपदेशों के शब्द मात्र का निर्जीव अनुकरण करके उनकी विडम्बना करता है। ससार के सभी धर्म-संस्थापकों की लगभग एक ही गति हुई है और वह यह कि संसार उनके आदर्शों पर चलने के बजाय उनकी पूजा करता है। किसी भी धर्म के अनुयाई

उसके प्रवर्तक से कितने दूर चले जाते है, इसको एक बार यूरोप के प्रसिद्ध तत्ववेत्ता नित्शे (Nietzche) ने बहुत ही सुन्दर शब्दों मे समझाया था। उसने कहा था कि दुनिया मे एक ही सच्चा ईसाई पैदा हुआ था और वह था स्वयं ईसामसीह जिसे लोगों ने फासी पर लटका दिया। हो सकता है कि नित्शे के वाक्य में कुछ अतिशयोक्ति हो पर इसमें सन्देह नहीं है कि पैगम्बरो के सजीव सिद्धात उनके अनुयाइयों मे निर्जीव क्रिया-काण्ड का रूप धारण कर लेते है, युग-द्रष्टा की उदार और व्यापक दृष्टि अन्धविश्वास और रूढि का रूप धारण कर लेती है। वास्तव मे देखा जाय तो किसी भी धर्म का ह्रास जितना उसके विरोधियों के विरोध मे नहीं दिखाई देता, उतना उसके अनुयाइयों के रूढ़ि-पालन मे नजर आता है।

फिर भी मानवजाति के इतिहास मे धार्मिक संगठन का एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। धार्मिक संगठन की अपनी मर्यादा बनी, परम्परागत धर्म-गुरुओं की गद्दियाँ स्थापित हुई, मन्दिर और मसजिद अगाध सम्पति के केन्द्र बन गये, उनके अपने नियम और कानून बने और उन नियमों के साथ साथ उनके फल और दण्ड भी निरधारित हुए। करीब करीब सभी देशों मे इस प्रकार के संगठित धर्मों के गुरुओं की सत्ता इतनी बढ़ी कि उसने वहां की राजनैतिक सत्ता से भी टक्कर ली और कहीं कहीं तो वे सारी राज्य-

व्यवस्था के सूत्रधार ही बन बैठे। भारतवर्ष में क्षत्रियों और ब्राह्मणों की स्पर्धा और यूरोप मे पोपों और राजसत्ता के बीच संघर्ष इसके उदाहरण हैं। वास्तव में धर्म-गुरुओं की इस परम्परागत सत्ता के रूढ हो जाने के कारण ही फिर नये धार्मिक आन्दोलनों का जन्म होता है। बुद्ध और महावीरने हिन्दू धर्म में रूढ़ ब्राह्मण-सत्ता के विरुद्ध और यूरोप मे ल्यूथर ने रोम की पोप सत्ता के खिलाफ बगावत की।

सभी संगठनों मे एक प्रकार की अनुदारता या कड़ाई आ ही जाती है। धार्मिक संगठन में भी रूढिवाद, अनुदारता और अपने-पराये की भावना घुस जाती है। प्रत्येक धर्म के गुरु अपने ही दृष्टिकोण से सत्य का प्रतिपादन करते हैं, उसी को अन्तिम सत्य बताते हैं और उस सत्य को जो वचन या कर्म से नहीं मानते, उन्हें दण्ड देते हैं। इतिहास के किसी भी निष्पक्ष वाचन करने वाले से पूछिये कि धर्मान्धता ने कितनी बुराइयों को जन्म दिया है। धर्म के नाम पर बडी बडी लडाइया लडी गई हैं, एक जाति ने दूसरी जाति पर अत्याचार किये हैं और उसका बहिष्कार किया है। परम्परारूढ धर्म-गुरुओं ने ज्ञान और विज्ञान के विकास मे बाधाएं डाली हैं और बनी हुई व्यवस्था मे किसी भी प्रकार के फेर-फार का विरोध किया है। उन्होंने जनता को यही सिखाया है कि अपनी आत्मशुद्धि के लिये या परमात्मा को खुश

करने के लिये मन्दिरों मे या उनके महन्तो को दान देना या व्रत-उपवास करना काफी है। जैन धर्म ने तो ऐसे स्वार्थी महन्तों की भक्ति को और उनके बताये हुए मार्ग पर चलने को एक प्रकार का मिथ्यात्व बतलाया है। आज भी हम हिन्दुस्तान मे भिन्न भिन्न लोगो से इस प्रकार की बात सुनते है कि हमारा धर्म खतरे मे है। वास्तव मे धर्म से उनका मतलब अपनी भौतिक सुख-सामग्री और इच्छाओं का ही होता है क्योंकि यह तो मानने मे नहीं आता कि धर्म जैसी चीज के अस्तित्व और विनाश का केवल रोटी के टुकड़ों और रोटी के बटवारे से कोई सम्बन्ध हो। धर्म के नाम पर कभी कभी तो एक ही धर्म के अनुयाई आपस मे सर फोड़ लेते है और ऐसी बातों पर जो बुद्धि से सोचने पर निकम्मी मालूम होती है। इससे भी आश्चर्य की बात तो यह है कि ईश्वर और मुक्ति का संदेश जनता तक पहुचाने के लिये—धर्म के प्रचार के लिये—लोगों ने तलवार और बन्दूक काम मे लाने मे भी आगा-पीछा नहीं किया। यह सच है कि आज पश्चिम मे आदमी की पशुता आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र मे ही ज्यादा प्रस्फुटित हुई है पर हिन्दुस्तान मे तो आज भी धार्मिक भेद-भाव अपनी अनुदारता में राजनीति से बाज़ी ले जाते हैं।

ऊपर की बातों से यह तो आप को मालूम हो गया

होगा कि प्रत्येक धर्म की सब से बडी बुराई उसके एक सीमित सम्प्रदाय बन जाने में और महन्तों, क्रिया-काण्डों और रूढ़ियों की परम्परा में है। और इसी के कारण फिर विचार-क्रान्ति और धर्मों के प्रति अरुचि पैदा होती है। जैसा एक बार बुद्ध-जयन्ति के अवसर पर गाधीजी ने कहा था, "पुजारी ही अपने देव की आत्मा का खून करते है।" यह ठीक है कि शास्त्रों और सूत्रों को जिन्हे ईश्वर-प्रणीत कहा जाता है, आम लोगों को समझाने के लिये और उन्हे धर्म मे दीक्षित करने के लिये गुरुओं की या महन्तों की आवश्यकता होती है पर क्या यह माना जा सकता है कि ऐसे धर्म-गुरुओं मे जो आध्यात्मिक गुण होने चाहिये, वे पुश्तैनी या जाति विशेष के कारण या परम्परागत केवल गुरु की गद्दी पर बैठ जाने से आ सकते है। इस तरह की गुरु-परम्परा की सब लाभ-हानियों को देखते हुए यह मानना पड़ता है कि यह परम्परा ही सत्ता और रूढ़िवाद की पोषिका बन कर धर्मों को अनुदारता, अत्याचार और दम्भ का दोषी ठहराती है। आत्मा और परमात्मा के बीच ऐसे दलालों की जरूरत नहीं है।

(३)

पर, आप मेरी बात से कोई गलतफ़हमी पैदा न करें। धर्म की आत्मा उसके बाहरी ढाँचे से ऊपर होती है। क्या

महापुरुषों के, धर्म-प्रवर्तकों के जीवन से मानवजाति को नैतिक विकास की शिक्षा नहीं मिली? क्या उन्होंने अपनी व्यापक और गहरी दृष्टि से लोगों आदमियों में श्रद्धा उत्पन्न नहीं की? मानवजाति ने चाहे अभी तक इस दिशा में ज्यादा प्रगति न की हो, पर मानव-प्रकृति में जो सुधार और विकास हुआ है उसमें भविष्य तो कम से कम उज्ज्वल मालूम होता है। साहित्य, संगीत, शिल्प और कला को, जो मानवजाति के वास्तविक विकास के सूचक हैं, धार्मिक भावना से बड़ा प्रोत्साहन मिला है। और हम उस अत्यन्त सूक्ष्म और अगाध तत्त्वज्ञान को भी कैसे भूल सकते हैं जो भिन्न भिन्न धर्मों में प्रकट हुआ है हालाँकि मानवज्ञान और क्रिया की ऊँची से ऊँची वस्तु भी आत्मा का केवल एक अपूर्ण प्रतिबिम्ब ही है। मनुष्य की सहज कमजोरियाँ उसके आध्यात्मिक विकास को रोकती हैं पर पैगम्बरों के जीवन के ज्वलन्त उदाहरण, उनकी साधना, सफलता और असफलता मनुष्य की प्रगति में उसके पथ-प्रदर्शक बनते हैं और सैकड़ों हजारों वर्षों के बाद भी हमें इस बात की सूचना करते रहते हैं कि आत्मा कितनी ऊँची उठ सकती है। जब हम धर्म की बुराइयों पर नजर डालें तो साथ ही साथ इस बात को भी न भूलें कि धर्म ही मनुष्य के सामने निःस्वार्थ सेवा और त्याग का आदर्श रखता है और उसमें अपने से ऊँचे किसी

आदर्श, शक्ति या आत्मा के प्रति भक्ति पैदा करता है। धर्म ने ही मनुष्य को अपनी प्रकृति से ऊपर उठाया है। तर्क या उपदेश से चाहे विश्वास जमे या न जमे, श्रद्धा उत्पन्न हो या न हो पर एक वास्तविक ज्वलन्त उदाहरण हमारे हृदय मे परिवर्तन कर देता है।

और देशों की तरह हमारे देश मे भी बडे बडे सन्त और ऋषि हुए हैं जिन्होंने जीवन के तथ्य को समझा है और सांसारिक सुखों की क्षण-भंगुरता का अनुभव किया है। उनकी आत्मा की उड़ान को, उनकी भावनाओं को हम शायद वैज्ञानिक कसौटी पर न कस सकें क्योंकि जैसा महाकवि गेटे ने कहा था, "सत्य कहा नहीं जा सकता, उसका अनुभव ही किया जाता है।" मीराबाई, कबीर, रामदास और चैतन्य जैसे सन्तों के भक्तिरस की धारा भारतवर्ष की ऐसी सम्पत्ति है जो दूसरे देशों के उपनिवेशों इत्यादि की सम्पत्ति से कहीं ऊंची है। धर्म-संस्थापकों ने इस बात पर बहुत जोर दिया है कि सच्चा धर्म केवल उपदेश या क्रियाकाण्ड नहीं पर वह वस्तु है जो जीवन मे उतारा जा सके। उदाहरण स्वरूप महावीर के बाद जैन धर्म का सुदूर देशों मे—उत्तर मे सिन्धु के किनारे से लेकर दक्षिण भारत तक मे—खूब प्रचार हुआ और उसके साथ साथ अहिंसा और सामाजिक कल्याण की उदात्त भावनाओं का भी। कहा जाता है कि सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य स्वयं अपना राज्य छोड़कर

श्री भद्रबाहु के साथ दक्षिण गये थे। इसी प्रकार अशोक के समय में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ।

मनुष्य के लिए आध्यात्मिक विकास का सब से सरल मार्ग दूसरे मनुष्यों की सेवा का है। इसीलिए जैन धर्माचार्यों ने कितने ही प्रकार के अहंकार बतलाये हैं जो आत्मा के विनय रूपी गुण के विरोधी हैं। जाति का अभिमान भी उनमें से एक है, क्योंकि स्वयं भगवान् ने बतलाया है कि एक मातंग अर्थात् चांडाल भी, अगर उसकी श्रद्धा सच्ची है तो देवों का देव समझा जायगा। आज भी हम देखते हैं कि दीन-दुखियों की सेवा में धर्म की सच्ची आत्मा रही हुई है। धर्म कभी वर्तमान के सुलगते हुए प्रश्नों की अवगणना करके ठहर नहीं सकता। उसे वे प्रश्न सुलझाने ही होंगे। धार्मिक कहलाने वाले मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह पुजारियों के मन्त्रों की अपेक्षा जनता के भोजन के प्रश्न का अधिक खयाल रखे। महंत क्या उपदेश देते हैं, इससे अधिक इस बात का विचार करे कि उनके अनुयायी क्या करते हैं। जीवन कोई सरल वस्तु नहीं है। मुक्ति या आत्मशुद्धि के लिए कोई झटपट से पहुँच जायं, ऐसा सीधा रास्ता नहीं है। जैसा बर्ट्रेन्ड रसेल ने कहा है, "हमारे जीवन का ध्येय सिर्फ इतना ही नहीं है कि हम जैसे तैसे ईश्वर के कोप से बचते हुए अपना जीवन पूरा करें। यह संसार हमारा है, और अगर हम चाहें तो इसे स्वर्ग या नरक बना

सकते हैं।" सच्चा धर्म मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक सभी क्षेत्रों को छूता है और उसका ध्येय सामूहिक प्रयत्न से समाज की उन्नति करना है। जैन धर्म के सिद्धात का केन्द्र भी यही है कि मनुष्य-जन्म देवगति से भी ऊँचा है। देवों के राजा देवेन्द्र भी यदि चाहे तो सीधे मोक्ष मे नहीं जा सकते। उन्हे इसके लिए मनुष्य-भव में आना ही पड़ेगा। यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण सैद्धातिक सत्य है कि मनुष्य-जीवन संसार के सब धन-दौलत से बढ़कर है। पर दु ख इस बात का है कि धर्म के नाम पर व्यक्तिगत आचार-विचार तो बराबर सिखाये जाते है, किन्तु धर्म की आत्मा भुला दी जाती है तथा सामाजिक और सामूहिक जीवन से धर्म अलग हो जाता है। और आज के हमारे पढ़े-लिखे नवयुवक हमारी पुश्तैनी धार्मिक भावनाओं से तो दूर हो ही गये है, पर पश्चिम की सामाजिक कल्याण और विवेकपूर्ण दान-वृत्ति की भावनाओं को भी उन्होंने नहीं अपनाया। पश्चिम मे भी जो लोग मानव-समाज के दु खों को कम करना चाहते हैं, उनमे धार्मिक भावना आये बिना नहीं रहती, चाहे वे धार्मिक मठों या संस्थाओं को कितना ही बुरा समझते हों। साम्यवादी रूस के कुछ प्रसिद्ध साम्यवादियों की तुलना भी त्याग और संयम की दृष्टि से किसी भी धर्म के साधुओं से की जा सकती है। हिटलर के लिए भी स्वयं एक अंग्रेज विचारक ने, जो उसके सिद्धातों और

कार्यों से सहमत नहीं है, यह कहा है कि नैतिक पतन और नास्तिकता के आज के युग मे वह, अर्थात् हिटलर, आत्म-त्याग, कर्तव्य-भावना और देश के लिए निजी सुखों का बलिदान करने की दृष्टि से एक ऐसा व्यक्ति है जिसने संसार को यह दिखलाया है कि आत्मा भौतिक सुखों से ऊपर है। जब कि बुद्धि मे विश्वास करने वाले आज के शंकाशील युवक केवल शंका ही करते रहते हैं, तब साम्यवाद या फासिज्म जनता की श्रद्धा और विश्वास की भूख मिटाते हैं और उसके सामने आदर्श उपस्थित करते है। आज जो राष्ट्र फासिज्म या साम्यवाद को बुरा समझते है, वे जब तक अपने राष्ट्र मे इस तरह की असीम आत्मशक्ति, नैतिक नियन्त्रण और आदर्श उपस्थित नहीं करते, तब तक संसार मे नया युग केवल स्वप्न रहेगा। पर यह नैतिक बल कहाँ से मिले ?

(४)

कुछ विचारकों का कहना है कि बिना हृदय-परिवर्तन के अब संसार को नाश से नहीं बचाया जा सकता। कुछ तो यह भी कहते हैं कि इस दुनियां मे एक नये पैगम्बर की आवश्यकता है। बहुत से ऐसे भी सम्प्रदाय हैं, जो उत्सुकता से ऐसे अवतार की प्रतीक्षा कर रहे हैं, जैसे संसार मे अभी तक महापुरुष या अवतारों की कमी रही हो। हमे किसी नये अवतार की आवश्यकता नहीं, जो हो गये हैं उन्हीं के आदेशो

का अगर हम पालन करें तो काफी है। कुछ लोग तो यह भी कहते हैं कि इतिहास के आरंभ से अब तक धार्मिक संगठनों ने अनुदारता, वहम और अत्याचार का पोषण करके मानवजाति का भला करने के बदले बुराई ही अधिक की है। उधर कट्टर पंथी अपने अनुयाइयों की संख्या बढ़ाने और एक-दूसरे के धर्मों की समालोचना करने मे ही मग्न रहते है।

इन शंकाओं और समालोचनाओं का समाधान होना जरूरी है, पर हम परख कैसे करें—धर्म-प्रवर्तकों द्वारा जीवन में उतारे हुए आदर्शों से या इनके अनुयाइयों के रूढ़िवाद से? सिद्धान्तों की तुलना तो केवल बौद्धिक चीज है क्योंकि एक पैगम्बर से दूसरे पैगम्बर के उपदेशों मे कोई बहुत ज्यादा अंतर नहीं है और इसलिये भी कि उनके अनुयाइयों के जीवन मे वे बातें नहीं के बराबर है। दूसरी ओर अगर हम विभिन्न धर्मों के अनुयाइयों के आज के जीवन की तुलना करें तो यह काम असंभव हो जायगा। पर, अगर नास्तिकों और कट्टर-पंथियों दोनों का समाधान करना हो तो धार्मिक वृत्ति वाले मनुष्यों का कर्तव्य है कि वे धार्मिक संगठनों की दीवारों के ऊपर उठकर धर्म-संस्थापकों के उपदेशों को महन्तों की या पट्टधर साधुओं की भाषा मे नहीं, पर अपनी सहज बुद्धि के अनुसार समझने का प्रयत्न करें और उसके अनुसार आचरण करें। 'धर्म' को बचाने का और उसे मानवजाति की सेवा की ओर प्रगतिशील करने का यही एक मात्र उपाय मुझे दिखाई देता है।

अनुवादक—श्री सिद्धराज ढड्ढा

धर्म क्या है ?

[वक्ता—श्री जैनेन्द्रकुमार, दिल्ली]

जिस विषय पर मुझे बोलना है, वह है यह कि धर्म क्या है। यह तो मेरे लिये घबराने वाली बात है। धर्म-शास्त्र मैं क्या जानता हूं ? पर धर्म शायद जानने की वस्तु नहीं; वह तो करने की है। यह नहीं कि बिन जाने करने की हो, पर करने द्वारा ही उसे जानना होता है। क्रिया नहीं तो ज्ञान नहीं। यानी बोलने से तो धर्म का सम्बन्ध है ही नहीं। भीड़-भाड़ से भी उसका वास्ता नहीं है। धर्म की साधना एकान्त में होती है और मौन द्वारा होती है। बोलने से

श्री जैनेन्द्रकुमारजी

[चित्रकार—इन्द्र दूगड़

तो वाद बनते हैं। वाद से विवाद खड़े होते हैं। अनेकानेक तो आज वाद हैं। उन वादों मे आपस में खींचतान है और अनबन है। तू-तडाक और मार-पीट तक सुनी जाती है। बोलकर उस कलह के कोलाहल में अक्सर बढ़ती ही हुआ करती है। तब उस बोलने मे धर्म कहां रक्खा है ? इससे वृथा बोलने से बचना ही धर्मानुकूल हो सकता है।

धर्म अनेकता मे मेल पैदा करता है। बहुतेरे जो वाद-विवाद हैं, धर्म उनमे समन्वय लाता और शान्ति देता है। धर्म इस तरह शंका की नहीं, निष्ठा की वस्तु है। स्वार्थ हमें फाड़ते हैं तो धर्म हमे जोड़ता है।

फिर भी भाग्य का व्यंग समझिये कि उस धर्म के बारे मे मुझे बोलना होगा। हां, बोलने को भी जगह हो सकती है, बशर्ते कि वह फलप्रद हो। उससे सत्कर्म की प्रेरणा और उत्पत्ति हो, तब तो बोलना धर्म है, नहीं तो अधर्म। कवि का वचन है कि "बुद्धि कर्मानुसारिणी।" उसी तरह बोलना भी कर्मानुसार होना चाहिए। मैं हू कि कोई हो, कथनी के पीछे अनुरूप करनी नहीं है तो वैसी कथनी पाखंड हो जाती है। वह बंधन और व्यर्थता बढाती है।

इस पर्युषण व्याख्यानमाला के आयोजन को सिद्ध तभी तो कहा जायगा जब उससे कर्त्तव्य-कर्म मे स्फूर्ति और तत्परता मिलेगी। नहीं तो कहे हुए शब्द बुद्धि मे चंचलता

लाते हैं। बुद्धि छिड जाने पर अगर आदमी ठीक काम में न लग जाय और न लगा हो तो अशान्त रहता है। उसको चैन नहीं पड़ता। इससे फिर हानि होती है। मैं यह देखता हू कि जहाँ हज़ार-पांच सौ का जमाव रहता है वहाँ व्याख्यान व्यसन हो जाता है। बोलने वाले को उसका नशा चढ़ जाता है और सुनने वाले भाषण को अच्छा-बुरा कह कर वही पल्ला झाड चलते हैं। यह धर्म थोड़े ही है। इससे पर्युषण पर्व की यह व्याख्यानमाला हवा में नहीं उड़ जानी चाहिये। उसका कुछ परिणाम निकलना चाहिए। अगर परिणाम में एक भी आदमी स्वार्थ को कम कर जीवन को धर्म-सेवा यानी मानव-सेवा मे लगाने को चल पडा तो बेशक यह आयोजन सफल हो गया समझिये। मैं भी तो बात कहता हू, मैं कौन काम करता हूं? पर सच्चा आदमी मुंह से कम कहता है, उसका चरित्र उससे अधिक कह देता है। धर्मनिष्ठ का तो जीवन ही बोलता है। उसे फिर अलग मुँह से कहने को बहुत कम रह जाना चाहिए।

धर्म क्या है? आप्त वचन है कि वस्तु-स्वभाव धर्म है। पानी शीतल रहेगा, आग गरम। पानी का धर्म शीतलता, अग्नि का गरमी। इसी तरह आदमी को खरा इन्सान बनना चाहिए। अर्थात् मनुष्य का धर्म है, मनुष्यता।

लेकिन कहा जायगा कि क्या कोई अपने स्वभाव से बाहर

धर्म क्या है ?

भी जा सकता है ? जो जो करता है, अपने स्वभावानुकूल। चोर का स्वभाव चोरी करना; झूठे का झूठ बोलना। तब धर्म-अधर्म का कहां सवाल आता है ? स्वभाव ही यदि धर्म हो तो अधर्म कुछ रहना ही नहीं चाहिये। क्योंकि अपने स्वभावानुसार बरतने को तो सब लाचार ही हैं। पानी ठंडा होने और अग्नि गरम होने के सिवा भला और कुछ हो सकती है। तब अधर्म की आशंका कहां ?

हां, यह ठीक। लेकिन आदमी की बात अजब है। आदमी मे कई तहें है। उसका शरीर कुछ चाहता है तो मन कुछ कहता है। इस तरह आदमी मे अन्तर्विरोध दिखाई देता है। उससे द्वन्द्व और क्लेश पैदा होता है।

परिणाम निकला कि आदमी अपने स्वभाव मे स्थिर नहीं है। वह स्व—स्थ नहीं है।

तब विचारणीय बनता है कि उसका 'स्व' क्या! और स्वास्थ्य क्या ?

विचार करने चलते हैं तो मालूम होता है कि शरीर ही आदमी नहीं है। वह कुछ और है, उससे सूक्ष्म है और भिन्न है। कहना होता है कि वह आत्मा है। आत्मा जड नहीं चेतन है।, इससे जितना आदमी का व्यवहार जड शरीर की वासनाओं से बन्धा नहीं, बल्कि चैतन्य आत्म रूप होगा उतना ही वह स्व-स्थ यानी धर्मयुक्त है।

तो क्या शरीर को काटकाट कर अलग कर देने से शुद्ध आत्मा निकल आयगी? शंकावान ऐसी शंका कर सकता है। अगर आदमी आत्मा ही है और शरीर आत्म-रूपता की सिद्धि मे बाधा है तो उसे सुखा गला कर नाश किया जाय, यही न?

पर नहीं, ऐसा नहीं। कायिक क्लेश धर्म की परिभाषा नहीं है। सिद्धि का वह मार्ग नहीं है। काया को नष्ट नहीं, वश करना है। काया बिना आत्मा की ही अभिव्यक्ति कहाँ सम्भव है? काया गिरी कि आत्मा ही अदृश्य हुई। अतः जो करना है वह यह कि शरीर अपने प्रत्येक अणु मे आत्म धर्म स्वीकार करके चले। आत्मा के प्रति प्रतिरोध और द्रोह उसमे न रह जाय। वह सधे घोड़े के मानिन्द हो। ऐसा शरीर तो मुक्ति-साधना में साधक होता और इस तरह स्वयं एक तीर्थ, एक मन्दिर बन जाता है। आत्म-विमुख होकर तो वह बिगड़े घोड़े की तरह दमनीय है ही।

बेशक अशरीरी सिद्ध की कल्पना भी हमारे पास है। चरम आदर्श की बात कहें तो वहाँ शरीर तक नहीं रहेगा। आत्मा ही अपने सच्चिदानन्द स्वरूप मे विराजती है।

अच्छा, तात्विक तो यह बात हो गयी। वह सरल भी लगती होगी। अन्तर्विरोध को जीतना, इन्द्रियों को वशीभूत करना और स्वयं उत्तरोत्तर शुद्ध चिन्मय आत्मतेजोरूप होते जाना धर्म का मार्ग है।

पर व्यवहार में कठिनाई दीखती है। ठीक ही है, चलेंगे तब तो राह की बाधा का पता चलेगा। चलना ही न शुरू करें, तो आगे का रास्ता सीधा-सपाट दीख पड़े तो क्या अचरज ? सो धरती पर कदम बढ़ाते हैं कि उलझन दीखती है। यहां केवल धर्म नहीं मिलता, नाना विशेषणों के साथ वह मिलता है। जैसे जैन धर्म, सनातन धर्म, ईसाई धर्म, बौद्ध धर्म, इसलाम धर्म। कोई धर्म अपने को गलत नहीं मानता। और बेशक कोई गलत हो भी क्यों ? पर हर धर्म में कुछ लोग हैं जो अपने धर्म को इतना एकान्त सही मान लेते हैं कि दूसरे के धर्म को गलत कहने को उतारू बनते हैं। तब धर्म की जिज्ञासा में अपने से बाहर निकल कर आने वाले को बड़ी दुविधा होती है। अनेक उपदेष्टा मिलते हैं जो कहते हैं हमारे डेरे में आजाओ, हमारे पास मुक्ति का मार्ग है। और वह कहते हैं कि यह हमारा साहित्य पढ़ो, तुलनात्मक बुद्धि से देखकर विवेक से काम लो। तब हो न सकेगा कि हमारे ही धर्म में तुम न आ मिलो।

दावा सब धर्मों का यही है। और झूठ भला किसको ठहराया जाय ? धर्म-तत्व किसी शक्ल के पात्र मे हो, अगर वह है तो पात्र उपयोगी है। यानी नाना नाम वाले जितने सम्प्रदाय हैं, धर्म-पूर्वक वे सब सच बनते हैं। धर्म-हीन होकर वे ही मिथ्या हो जाते हैं। जैसे जब तक आत्मा है, तब तक

अमुक नामधारी व्यक्ति का देह भी आदरणीय है। आत्मा निकल जाने पर वह देह रोग का घर बन रहेगा। तब उससे जितनी जल्दी छुट्टी पा ली जाय, उतना अच्छा। इसी तरह जैन अथवा और नामों के नीचे जो सम्प्रदाय बन गये हैं, यदि वहाँ धर्म है तो वे जैन अथवा अन्य विशेषण उपादेय ठहरते हैं।

पर देखने मे आता है कि कहीं जैन धर्म को ऐसा कसकर चिपटाया गया है कि धर्म तो उसमे से निचुड़ गया है और केवल 'जैन' रह गया है। ऐसे उदाहरण विरले नहीं हैं। वहाँ जैन धर्म को धर्म के लिए नहीं 'जैन' के लिए माना जाता है। इस वृत्ति मे सम्प्रदाय-मूढ़ता है।

दूसरे सम्प्रदायो मे भी ऐसी बात मिलती है। और सच यह कि भीतरी धार्मिकता जितनी कम होती है, साम्प्रदायिक मताग्रह उतना ही उत्कट देखा जाता है। पर यह मोह है।

मैं अपनी बात कहूँ। मै अपनी मा का इकलौता बेटा था। चार महीने का था, पिता तभी मर गये। मा ही मुझे सब कुछ रहीं। पर एक दिन आया कि उनकी आत्मा देह छोड़ प्रयाण कर गयी। अब आप मेरी हालत जान सकते हैं। पर कलेजे पर पत्थर रखकर मुझे यही करना पड़ा कि स्मशान ले जाकर उनका शव-दाह कर आऊं। मेरे लिए यह सुख की बात न थी। पर क्या आप लोगो मे से कोई भी मुझे यह सलाह देने को

तैयार हैं कि मुझे मा की देह से चिपटा ही रहना चाहिये था, छोड़ना नहीं चाहिए था ?

साम्प्रदायिक रूढ़ियों का भी यही हाल है। यदि धार्मिक तेजस्विता इतनी है कि उसके स्पर्श से क्रिया प्राणवान हो जाय, तो ठीक। नहीं तो आग्रह में निष्प्राण रूढ़ि का पालन कैसे ठीक कहा जा सकता है ?

विशेषण से विशिष्ट होकर ही जो जगत-व्यवहार मे धर्म मिलता है, इससे बुद्धि-विचक्षण पुरुषों को भी भ्राति होती देखी जाती है। शुद्ध धर्म के मोह मे उनमे उन विशेषणो के प्रति अवज्ञा हो जाती है। ऐसी अवज्ञा आजकल अक्सर देखी जाती है। पर यह उचित नहीं। क्योकि जो रूप-नाम से हीन है, वह जगत के लिये नहीं ही जैसा है। इस लिए सम्प्रदाययुक्त धर्म को भी एकात अनुचित मानना भूल है।

पर धर्म के खोजी की कठिनाई ऊपर की बात से और बढ़ जाती है। यह धर्म भी सच, वह धर्म भी सच। पर दोनों एक तो हैं नहीं। यह देख कर वह झमेले मे हो सकता है। उधर से पुकार सुनता है, तुलनात्मक अध्ययन की। तब वह क्या तुलनात्मक अध्ययन मे पड़े और तय करने चले कि कौन इसमे कम श्रेष्ठ है ? और कौन अधिक ?

मैं मानता हू कि जिज्ञासु इस तुलनात्मक अध्ययन के

चक्कर मे पड़ा कि खोया गया। उसे फिर राह नहीं मिलेगी। और वह शब्द के भूल-भुलैये मे भटक रहेगा। क्योंकि फैसला करने की बुद्धि से धर्मों मे तुलना करने चलना ही एक अहंकार है और गलत है।

अरे भाई, धर्म कहाँ बाहर खोजे मिलेगा? उसकी गुहा तो भीतर है। भीतर झांको तो वहां से एक धीमी लौ का प्रकाश होगा। आत्मा की आवाज सब के भीतर है। उसे सुनते चलो। उसी से बाहरी उलझन कटेगी।

पर अधीर कहता है कि 'अजी कहां है वह आत्मा की आवाज? हम सुनते है और कुछ नहीं सुनाई देता।' वह भाई भी गलत नहीं कहता। पर उसे अधीरता पहले छोडनी होगी। बात यह है कि हमारे अन्दर तरह तरह की कामनाओं का इतना कोलाहल मचा रहता है कि वह धीमी आवाज कैसे सुनाई दे? वह तो है, लेकिन उसे सुनने के लिए शोर की तरफ से कान बन्द करने होगे। तरह तरह के वाद-विवाद, शास्त्रार्थ चल रहे है। उन सब की तरफ बहरे बन जाना होगा। जो बाहर दीख रहा है उस पर आंख मूंद लेनी होगी। तब जो नहीं सुनता वह सुनाई देगा और नहीं दीखता, वह दिखाई देगा। बस, उसको गह लीजिये। उसके पीछे जो भी छोडना पड़े, छोड़ दीजिये। जहां वह ले चले, चले चलिए। ऐसे आप देखेंगे कि आप सही धर्म पालन

कर रहे हैं। और धर्म के नाम पर जो जंजाल और दुकानदारी का पसारा फैला है, उससे बचे सके हैं।

पर दुनियादार कहेगा कि आप कहाँ की आसमान की बात करते हो? आई मौत कि सब उड़ जाता है। किसने भला आत्मा देखी है? जन्मा है सो मरेगा। मर कर क्या छोड़ जायगा? आत्मा तो वह छोड़ नहीं जाता, पर धन-दौलत उसकी छूट जाती है। धर्म की कमाई कहाँ दीखती है? धन की कमाई आदमी के मरने बाद भी टिकती है। एक ने जीते-जी पाँच हवेलियाँ बनायी। वे पाँच सौ वर्ष तक रहीं तो तब तक उसकी याद रहेगी। उससे नाती-पोतों और पड़-पोतों का भला होगा। वह टिकने वाली कमाई है। इसके सामने आत्मा की बात हवाई बात नहीं तो भला क्या है?

ठीक भी है। आते हुए हावड़ा पुल से आना हुआ कि पास एक बहुत ऊँचा क्रेन दीखा। भला उसकी ताकत का क्या पूछना? सैंकड़ों मन बोझ को गेंद की तरह यहाँ से वहाँ फेंक दे। ऊँचा ऐसा कि आसमान की छाती में मुक्का मारता हो। आदमी की उसके आगे क्या हस्ती? फिर लड़ाई में हिटलर के बम याद कीजिये। एक एक ऐसा कि हजारों को तहस-नहस कर दे और छन में भरी बस्ती वीरान कर दे। यह दुर्दान्त वास्तविकता है। इसके आगे आदमी चींटी

जितना भी नहीं। फिर क्या धर्म और क्या आत्मा ? उन ठोस लोहे की विकराल वास्तविकता के आगे क्या वह निरी खामखयाली ही नहीं है ?

एक बार तो बिन सोचे मन सहमता है। मालूम होता है कि भीमाकार जो लोहित-रुद्र सामने है, वह तो है, और जो निराकार धर्म-तत्व की बात है, वह नहीं है। पर, एक क्षण को मन सहम भी जाता हो, लेकिन तभी अन्दर से प्रतीति आती है कि उस दैत्याकार क्रेन के पीछे चाबी घुमाता हुआ साढ़े-तीन हाथ का एक आदमी बैठा है। क्रेन कितना भी बड़ा हो, वह उस नन्हे सचेतन आदमी के हाथ में जड़ की भाँति निष्क्रिय है। इसी तरह बम कितना भी नाशक हो, पर हिटलर उसके पीछे है, तभी उसकी शक्ति विनाश कर पाती है। अर्थात् जड़ की ठोस भीमता के पीछे चैतन्य की अव्यक्त सत्ता ही काम कर रही है।

और कहाँ है आज ऐतिहासिक काल के महाकाय जीव-जन्तु ? और साम्राज्य ? और दुर्ग ? और सत्ताएं ? आदमी ने अपने अहंकार में जो कुछ खड़ा किया, वह सब एक दिन खंडहर बन रहा। पर बुद्ध और महावीर को हुए हजारों वर्ष हो गये और ईसा की आज यह बीसवीं सदी है। काल के इस गहन-पटल को भेद कर इन महापुरुषों का सन्देश आज जीवित है और उसके भीतर से वे स्वयम् अमर हैं। कहाँ

धर्म क्या है ?

है सम्राटों का अतुल वैभव, महल-अटारी, कि जिनकी उम्र तुम ज्यादा बताते हो ? वह सब कुछ धूल मे मिल गया है। काल ने उसे लथेड़ डाला है। फिर भी उस काल पर विजयी बना हुआ और मृत्यु के बीच अमृत बना हुआ 'प्रेम का सन्देश' सदियों के अन्तराल से आज भी हमे सुन पड़ता है।

इसलिये धन की कमाई नहीं रहती, धर्म की ही कमाई रहती है। पर वह कमाई दीखती नहीं। धरती मे का बीज भी कहीं दीखता है ? पर अधीर उसका फल चाहता है। किन्तु उसका तत्कालीन प्रभाव नहीं भी नजर आता। अनातोले फ्रान्स की एक कहानी है। उसमें दिखाया है कि ईसा जब जिन्दा था तो वह एक आवारा उठाईगीरे के मानिन्द समझा जाता था। गरूर में मस्त अपने को ऊँचा मानने वाले लोग हिकारत से उसे देखते थे। लेकिन लोगों की घृणा से ईसा को क्या, उसने तो अपने को प्रेम से भरा रखा। वह फांसी चढ़ गया, पर फांसी चढ़ाने वालों के लिए उसका मन करुणा से भरा रहा। आज फांसी देने वाले वे अफ़्सर कहाँ है ? कौन उनको पूछता है ? और ईसा को आज अवतार मान कर करोड़ों लोग गद्‌गद हो जाते हैं। यह धर्म की महिमा है या किस की ? धर्म का बीज इतना छोटा है कि देखने को ऊपर की नहीं भीतर की आँख चाहिये। और

घास की तरह जल्दी वह उग नहीं आता। इसमें धर्म की श्रद्धा कठिन होती है। पर यही उस श्रद्धा की कीमत भी है। तुम्हारी प्रतिष्ठा न हो, लोग तुम्हें नहीं पूछें, बल्कि उल्टे त्रास दें और हंसी उड़ावें, तो भी धर्म से विमुख कैसे हुआ जा सकता है? उस श्रद्धा को भीतर जगा कर सब तरह की प्रतिकूलता को प्रेम से जीतना है।

आज तो उसी श्रद्धा का नाश है। मार-काट मची है और भोग के प्रतीक धन की पूजा की जाती है। भौतिक सुख-सुविधा ही एक इष्ट वस्तु समझी जाती है, बाकी भ्रम। पश्चिम की कल-पूजा और कला-पूजा के पीछे यही इन्द्रिय-परायणता है। इस नास्तिक जीवन-नीति की एक बाढ़ ही आ गई है। और घर घर उसमें बहता दीखता है। ऐसे में आत्म-श्रद्धा भारत ने खोई कि सब गया!

मूलभूत खतरा पश्चिम से आया भौतिक दर्शन है। पश्चिम यों तो उन्नति कर रहा है, प्रगति कर रहा है। पर वह विनाश के आवर्त्त के किनारे भी पहुंच रहा है। उस जीवन-नीति में जोर दिया जाता है अहम् पर। कहते हैं "Dev lop personality"। यह उनका मन्त्र है। पर इससे थोडी दूर बढने पर ही स्पर्धा पैदा होती है। उस Developed personality का जोर अपने ऊपर नहीं, दूसरे के ऊपर खर्च होता है। परिणाम होता है—हिंसा और दमन और

धर्म क्या है ?

शोषण। वहा वासनाओं को उत्तेजन दिया जाता है। यहाँ तक कि उनका राष्ट्र-प्रेम नशे का रूप ले लेता है। इस नशे के नीचे समूह के समूह संगठित होते और दूसरों को ललकार देते है। समझा जाता है कि वे बढ़ रहे है। पर पड़ौसी को पराजित कर और हीन समझ कर आगे बढ़ने वाली सभ्यता झूठी है। वह वृत्ति धार्मिक नहीं, अधार्मिक है। धार्मिक वृत्ति कहती है कि व्यक्ति सेवक बने। अपने को शून्य और अकिंचन मानने और बनाते रहने की पद्धति सच्ची धार्मिकता है।

सोचता हूँ कि इस दुनिया मे सच्चा करिश्मा क्या है, तो मुझे मालूम होता है कि जहाँ सब अपने अपने अहंकार में डूबे है उस जगत मे सच्ची विनम्रता ही सब से बड़ा करिश्मा है। जो कृतार्थ भाव से अपने को सब का सेवक बनाता है, वही धन्य है।

एक दूसरे को कुहनी से ठेलते हुए, दबाते-कुचलते हुए खुद आगे बढ़े दीखने का रोग विलायत मे है तो हिन्दुस्तान मे भी है। हिन्दुस्तान मे वह कम नहीं है। इस तरह सफलता भी पायी जाती सी दीखती हो, पर वैसी दुनियावी सफलता कोरी झूठ है और दम्भ है।

महावीर के नाम पर हम लोग मिलते और जय-ध्वनि करते है। हम उनके धर्म की प्रभावना करना चाहते हैं। लेकिन महावीर ने तो राजपाट छोड़ा और वन की राह ली।

सुख का रास्ता तजा; दुख का मार्ग पकड़ा। दूसरों को सता कर खुद आराम पाने से ठीक उल्टी रीति उन्होंने अपनायी। वह रीति खुद दुख उठाकर दूसरे का कष्ट हरने की यानी अहिंसा की थी। हम देखेंगे तो पायेंगे कि स्वेच्छापूर्वक पर-हित मे दुख उठाने का रास्ता ही सुख देता है। महावीर के तपस्वी जीवन का नहीं तो दूसरा क्या सार है ?

धर्म तत्व यह है कि अहम्-भाव छोडो, सेवाभावी बनो। परिग्रह का संचय मन मे लोभ और अभिमान लाता है। पदार्थ परिग्रह नहीं है; उनमें ममता परिग्रह है। समाज मे आज कितनी विषमता दीखती है। एक के पास धन का ढेर लग गया है; दूसरी जगह खाने को कौर नहीं। ऐसी स्थिति मे अहिंसा कहाँ ? धर्म कहाँ ? कुछ लोगों की ममता से समाजवादी विचार को जन्म मिला। समाजवाद लोगों मे धन का समान वितरण चाहता है। गांधीजी अहिंसक है, पर समाजवादी तो अहिंसक नहीं है। इससे जब गांधीजी कहते हैं कि ममता छोडो, तब समाजवादी यह कहने का धीरज क्यों रखने वाला है। वह कहेगा कि तुमसे ममता नहीं छूटती है तो मेरे तो हाथ है, मैं तुम्हारा धन छीने लेता हूँ। आप सच मानिए कि हमारे आसपास भूखे लोगों की भूख मंडरा रही हो तो उसके बीच महल के बंद कमरे मे धर्म का पालन नहीं हो सकता। धर्म कहता है कि धनिक अपने

धन का रक्षक ही अपने को समझे, उस पर अपना स्वत्व भाव नहीं माने। कोई जरूरत नहीं है कि हम चाहें कि धनिक धनिक न रहे। पर, धनिक को तो अपने को गरीब ही मानना चाहिए। जिसके पास सोने का जितना बोझ हो, उसकी आत्मा उतनी ही दबी है। पर उस सोने से अपनी आत्मा को आप अलग रखें, यानी ममता छोड दें तो सोना आपका कुछ न बिगाड सकेगा। न फिर उससे दूसरे का अलाभ होगा। और तब फिर वह सोना जगत का हित करेगा, क्योंकि धर्म के काम मे लगेगा। दूर क्यों जाइये, अपने ही पहले के श्रीमन्तों को देखिए न। कोई भला उन्हे देख कर कह सकता था कि ये कोट्याधीश हैं। सादा रहन-सहन, वही चाल-ढाल। पर आज की तो आनबान ही निराली है। जैसे धन बदन पर उछला आता हो। दिखावा अब बढ़ रहा है। अरे भाई, तुम्हारे पास धन है तो यह कौन बडाई की बात है। बडाई की बात तो त्याग मे है। अव्वल तो त्याग का दिखावा भी बुरा है। पर कोई धन का दिखावा करने बैठे तो यह महा मूर्खता के सिवा और क्या हो सकता है? सच्चा आदमी यानी सच्चा धार्मिक अपने को अकिंचन मानेगा। दिखावे पर वह कौडी नहीं खर्च करेगा, अपरिग्रही होगा और धन को परोपकार के निमित्त ही मानेगा।

भाइयो। मैंने आपका इतना समय लिया। अब जितनी

जमीन हम चले है, उस पर फिर पीछे फिर कर एक निगाह डाल लें।

पहली बात कि धर्म नाम की वस्तु शुद्ध रूप मे नहीं मिलती। बाहर खोजने चलते है तो वह विशेषण के साथ मिलती है। विशेषण अपने आप में मूल्यवान नहीं है। यह तो पात्र की तरह हैं। धर्म का उनमे रस है तो ठीक, नहीं तो बेकार।

दूसरी बात कि धर्म का मूल्य आत्मा मे है। इन्द्रियों को वश करना है और आत्मरूप होते जाना है। इस मार्ग पर अपने-पराये की बुद्धि को मिटाना होगा। दूसरों में आत्म-वत् वृत्ति रखनी होगी।

तीसरी बात यह कि अहंकार धर्म का शत्रु है। और सेवा धार्मिक जीवन का लक्षण है।

चौथी बात जिस पर कि काफी जोर भी कम होगा यह कि धर्म बोलने-जानने की चीज नहीं है। वह तो आचरण की वस्तु है। तर्क-पूर्वक धर्म-तत्व को छान डालने की स्पर्धा आदमी को नहीं करनी चाहिए। सूरज को आँख गडा-गडा कर देखो तो क्या नतीजा होगा? उससे आँख ही अंधी होगी। इसी तरह आत्मा-परमात्मा को भी बहुत तर्क-वितर्क के जाल डाल कर पकडने का आग्रह ठीक नहीं। वह तो व्यसन हो जाता है। उसमे पड़ कर बुद्धि विलासिनी और

निर्बल होती है। परम तत्व को जान कर भला कोई चुका सका है कि हम चुका देंगे? फिर उस पर वाद-विवाद क्यों? शास्त्रार्थ क्यों? घन्टों उलझी चर्चा क्यों? उचित है कि जितना हम से पचे उतना बौद्धिक ज्ञान हम ले लें। बौद्धिक ज्ञान तो अपने आप मे कोई साध्य होता नहीं है। बारीकी से देखें तो ज्ञाता और ज्ञेय की पृथकता पर ही वह ज्ञान सम्भव होता है। पर पृथकता तो झूठ है। इससे ऐसा ज्ञान भी एकान्त सच कैसे हो सकता है? धर्मानुभव की स्थिति वह है, जहाँ ज्ञाता और ज्ञेय अभिन्न हैं। अर्थात् जहाँ ज्ञान रहे, उतना भी अन्तर उनमे नहीं है। ज्ञान वहाँ घुल रहता है, जैसे नोन की गाठ पानी में गल रहती है।

यह सुन कर बुद्धिवादी (Rationalist) मुझे सवालों से तोप सकता है। पर सवाल की कहीं शाति हुई है? शंका शांत होगी तो बस श्रद्धा मे। जो अनुभव की बात है वह बहस की नहीं है। और समझ कर किसी ने सत्य का पार नहीं पाया है। इसलिए धर्म के विषय में हमे नम्र और जिज्ञासु हो कर चलना चाहिए। पाचवी बात यह कि धर्म से ऐसे व्यवहार हमे नहीं करने चाहिए जैसे धन से करते हैं। धन से हमारी गरज चिपटी रहती है। पर धर्म से बदला हम नहीं चाह सकते। यह तो सौदे जैसी बात हो जायगी। धन के मोल जिस तरह चीजें खरीदी जाती है, वैसे धर्म के बदले भी

विश्व-संस्कृति में जैन धर्म का स्थान*

[वक्ता—डॉक्टर कालीदास नाग एम० ए०, डी-लिट० (पेरिस)]

जैन धर्म और जैन संस्कृति के विकास के पीछे शताब्दियों का इतिहास छिपा पड़ा है। श्री ऋषभदेव से लेकर बाईसवें अर्हत श्री नेमिनाथ तक महान तीर्थंकरों की पौराणिक परम्परा को छोड भी दें तो भी हम अनुमानत ईसवी सन् से ८७२ वर्ष पूर्व के ऐतिहासिक काल को देखते हैं, जब तेईसवें अर्हत श्री भगवान पार्श्वनाथ का जन्म हुआ, जिन्होंने तीस वर्ष की

---

* वक्ता ने अपने भाषण का सारांश अंग्रेजी में भेजा था, उसका हिन्दी अनुवाद ही यहाँ दिया गया है। —मन्त्री

डा० कालिदास नाग

[चित्रकार—मुकुल डे

आयु मे घर-गृहस्थी त्याग दी और जिनको अनुमानतः ईसवी सन् से ७७२ वर्ष पूर्व बिहार के अन्तर्गत पार्श्वनाथ पहाड़ पर मोक्ष प्राप्त हुआ। भगवान पार्श्वनाथ ने जिस निगन्थ सम्प्रदाय की स्थापना की थी, उसमे कालगति से उत्पन्न हुए दोषों का सुधार श्री वर्धमान महावीर ने किया। महावीर अपनी आध्यात्मिक विजय के कारण 'जिन' अर्थात् विजयी कहलाते है। अतएव जैन धर्म, अर्थात् उन लोगों का धर्म जिन्होंने अपनी प्रकृति पर विजय प्राप्त करली है, एक महान धर्म था जिसका आधार आध्यात्मिक शुद्धि और विकास था। इससे यह मालूम हुआ कि महावीर किसी धम के संस्थापक नहीं बल्कि एक प्राचीन धर्म के सुधारक थे। प्राचीन भारतीय साहित्य मे महावीर गौतम बुद्ध के कुछ पहले उत्पन्न हुए उनके समकालीन माने जाते हैं। जंन साहित्य मे कई स्थानों पर गौतम बुद्ध के लिए यह बतलाया गया है कि वे महावीर के शिष्य गोयम नाम से प्रसिद्ध थे। बाद मे उत्पन्न हुए पक्षपात और मतभेद के कारण बौद्ध लेखकों ने निगन्थ नातपुत्त (महावीर) को बुद्ध का प्रतिपक्षी बनाया। वास्तव में दोनों के दृष्टिकोणों मे फर्क था भी। यही कारण है कि बौद्ध धर्म का दुनिया के बड़े भाग मे प्रसार हुआ किन्तु जैन धर्म एक भारतीय राष्ट्रीय धम ही रहा। किन्तु फिर भी जैसा डाक्टर विंटरनिज ने कहा है, दर्शन-शास्त्र की दृष्टि से जैन धर्म भी

एक अर्थ में विश्व-धर्म है। वह अर्थ यह है कि जैन धर्म न केवल सब जातियों और सब श्रेणियों के लोगों के लिए ही है बल्कि यह तो जानवरों, देवताओं और पातालवासियों के लिए भी है। विश्वात्मक सहानुभूति सहित यह व्यापक दृष्टि और बौद्धों का मैत्री का सिद्धान्त दोनों बातें जैन धर्म में अहिंसा के आध्यात्मिक सिद्धान्त द्वारा मौजूद हैं। इसलिए जैन धर्म और बौद्ध धर्म का तुलनात्मक अध्ययन बहुत पहले से ही किया जाना चाहिये था। आज ईसवी सन् से पहले के १००० वर्षों में हिन्दुस्तान में हुए आध्यात्मिक सुधार के आंदोलनों को जो समझना चाहते हैं उनके लिए इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन की अनिवार्य आवश्यकता है। वह समय एशिया भर में उग्र राजनैतिक और सामाजिक उलट-फेर का था, उसी समय एशिया में कई महान द्रष्टा और धर्म-स्थापक उत्पन्न हुए जैसे ईरान में जरथुस्त्र और चीन में लाओत्से और कनफ्यूसियस।

जैन धर्म और ब्राह्मण धर्म के सम्बन्ध के बारे में हम देखते हैं कि सारा का सारा जैन साहित्य ब्राह्मण संस्कृति की ओर बौद्ध लेखकों के विचारों की अपेक्षा ज्यादा झुका हुआ है। डाक्टर विंटरनिज, प्रो० जैकोबी और दूसरे कई विद्वानों ने इस बात को जोरदार शब्दों में स्वीकार किया है कि जैन लेखकों ने भारतीय साहित्य को सम्पन्न बनाने में बड़ा महत्वपूर्ण हिस्सा

अदा किया है। कहा गया है कि "भारतीय साहित्य का शायद ही कोई अंग बचा हो जिसमे जैनियों का अत्यन्त विशिष्ट स्थान न रहा हो।" इतिहास और वृत्त, काव्य और आख्यान, कथा और नाटक, स्तुति और जीवन-चरित्र, व्याकरण और कोष और इतना ही क्यों, विशिष्ट वैज्ञानिक साहित्य मे भी जैन लेखकों की संख्या कम नहीं है। भद्रबाहु, कुंद कुंद, जिनसेन, हेमचंद्र, हरिभद्र और अन्य प्राचीन तथा मध्यकालीन लेखकों ने आधुनिक भारतवासियो के लिए एक बड़ी सास्कृतिक सम्पत्ति जमा कर के रख दी। इस बात का प्रतिपादन तपगच्छ के सुप्रसिद्ध जैन आचाय, लेखक और सुधारक श्री यशोविजयजी ने किया है, जिनका समय सन् (१६२४-८८) के बीच का है। ईसवी सन् से एक शताब्दी बाद जैनियों मे दिगम्बर और श्वेताम्बर जो दो फिर्के हो गये, उनको एक करने का गौरवपूर्ण प्रयत्न इस महापुरुष ने किया था।

इस महान् साहित्य और इसकी आध्यात्मिक सामग्री की यत्नपूर्वक रक्षा करना मात्र दिगम्बरियों का, श्वेताम्बरियो का, स्थानकवासियो का, तेरापंथियो या किसी दूसरे संप्रदाय के लोगो का ही कर्तव्य नहीं है, बल्कि यह तो भारतीय संस्कृति और ज्ञान के सभी प्रेमियो का कर्तव्य है। जैनियों का सैद्धातिक साहित्य आज भी केवल कुछ विशेषज्ञो और विभिन्न संप्रदायों के लोगों तक ही सीमित है। और सिद्धान्त-

प्रतिपादन के अलावा जो दूसरा विशाल साहित्य है उसका भी आज तक पूर्ण रीति से अध्ययन नहीं किया गया है। हिन्दू-तत्वज्ञान के कितने विद्यार्थी यह जानने की परवाह भी करते है कि जैनियो ने न्याय और वशेपिक दर्शनों के विकास मे कितना योग दिया है? कितने हिन्दू इस बात को जानते है कि रामायण और महाभारत की कथाओं, एवं पुराण और कृष्ण की कहानियों पर जैन लेखकों ने भी कितना लिखा है। भारतीय कला के कितने से विद्यार्थी यह जानते हैं कि प्राचीन अजन्ता-काल की चित्रकला और मध्य-युग की राजपूत कला के बीच जैन चित्रकला कितना सुन्दर यौगिक है। जैन लेखको ने भारत की कई प्रमुख भाषाओं जैसे उत्तर मे गुजराती, मारवाड़ी, और हिन्दी तथा दक्षिण मे तामिल, तेलगू और कनाडी आदि को साहित्य-सम्पन्न करने मे कितनी सहायता दी है। इन भाषाओं मे आज भी जैन धर्म सम्बन्धी कितने गम्भीर और विवेचन पूर्ण प्रवन्ध छपते है किन्तु अभी तक किसी भी जैन संस्था ने इस समस्त सामग्री की सर्व साधारण के लिए एक बृहद् सूची बनाने का प्रयत्न भी नहीं किया। लगभग सन् १८७३-७८ मे हस्तलिखित जैन ग्रन्थों का एक वड़ा संकलन वर्लिन की रायल लाइब्रेरी के लिए जार्ज वूल्हर ने किया था। और जैन साहित्य के विस्तृत विवरण का भी पहला प्रयत्न सन् १८८३-८५ के आसपास प्रोफेसर ए० वेवर ने किया था। सन १६०६ और

१६०८ के वीच मे पेरिस के विद्वान प्रो० ए० गुरीनॉट महोदय ने अपनी 'Studies on Jaina Bibliography' प्रकाशित की थी। उसमे उसके वाद कोई परिवर्तन नहीं किया गया जव कि गत तीस वर्षों मे उत्तर और दक्षिण भारत मे नये हस्तलिखित जैन ग्रंथों और शिला-लेखो के ढेर के ढेर मिले है। हाल ही मे दक्षिण भारत मे जैन धर्म की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित हो रहा है। डा० एम० एच० कृष्ण ने 'श्रवण वेलगोला मे गोमटेश्वर के मस्तकाभिषेक' पर खोजपूर्ण विवेचन किया है। डा० वी० ए० सालेतोर और श्री एम० एस० रामस्वामी आयंगर ने भी दक्षिण भारतीय जैन धर्म के अध्ययन मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। (देखो—जैन एंटीकेरी, मार्च १६४०)। इण्डियन म्यूजियम के क्यूरेटर श्री टी० एन० रामचन्द्रन ने अपनी सुन्दर सचित्र पुस्तक, जिसका नाम "तिरुप्परुत्ती कुनरन, और उसके मन्दिर" मे दक्षिण भारत के जैन स्मारकों के वारे मे वहुत सुन्दर सामग्री दी है। डा० सी० मीनाक्षी ने कई जैन गुफाओं और जैन चित्रों का पता लगाया है जिनमे तीर्थंकरों के जीवन की सामग्री है। खास तौर से पुदुकोटा स्टेट अन्तर्गत सित्तन्नवासल ग्राम मे यह खोज हुई है।

अतएव जैन धर्म, जैन तत्त्वज्ञान और जैन संस्कृति के गम्भीर और सुव्यवस्थित अध्ययन के मार्ग मे जो अनेक समस्याएं खडी है, उनको सुलझाने के वारे मे मैं इस पवित्र सप्ताह

मे यहाँ उपस्थित जैन भाइयों के सम्मुख कुछ क्रियात्मक सुझाव पेश करता हू—

(१) एक छोटी सी समिति का निर्माण किया जाय जिसका उद्देश्य भारतवर्ष के उत्तर और दक्षिण के जैन समाजों के अग्रगण्य नेताओं को सम्मिलित करने की दृष्टि से एक अखिल भारतवर्षीय जैन काग्रेस या कान्फरेंस बुलाने की भूमिका तैयार करना हो।

(२) कलकत्ता मे एक जैन युवक संघ बनाया जाय जिसमे सभी खास खास सम्प्रदायों के प्रतिनिधि शामिल किये जायँ। इस संघ को यह कार्य सौंपा जाय कि अखिल भारतवर्षीय जैन काग्रेस मे प्रतिनिधित्व करने वाली संप्रदायों और संस्थाओं के विषय में प्रारम्भिक रिपोर्ट और नोट तैयार करे।

(३) अलग अलग जगहों पर रहने वाले जैन कार्यकर्ताओं और संस्थाओं के साथ सम्पर्क बनाये रखने और बढाते रहने की दृष्टि से कलकत्ता से हिन्दी और अंग्रेजी मे एक मासिक सूचना-पत्र निकाला जाय।

(४) जनता को और खासकर कलकत्ता यूनिवर्सिटी के रिसर्च वाले विद्यार्थियों को जैन धर्म और जैन संस्कृति के संबंध मे पुस्तकें और लेख लिखने का प्रोत्साहन देने के लिए कलकत्ता मे एक छोटा पुस्तकालय और वाचनालय खोला जाय।

(५) अखिल भारतीय आधार पर प्रमुख जैन तीर्थों, मंदिरों और दूसरे ऐतिहासिक भग्नावशेषों की एक सूची तैयार की जाय और उनके सम्बन्ध में लोकप्रिय व्याख्यानों का प्रबन्ध किया जाय। हो सके, तो लैन्टर्न स्लाइड और चित्रों का भी प्रबन्ध किया जाय।

(६) जैन कला और आर्कियोलाजी का एक म्यूजियम भी खोला जाय जो किसी भी सार्वजनिक स्थान मे हो सकता है, या उसके लिए एक नया भवन बनाया जा सकता है, जहा जैन पुस्तकालय और सूचना-विभाग भी रखा जा सकेगा। उस म्यूजियम के तत्वावधान मे समय समय पर हस्तलिखित जैन ग्रन्थों, चित्रों और दूसरी कलापूर्ण वस्तुओ का प्रदर्शन भी किया जा सकता है।

(७) एक केन्द्रीय जैन अन्वेषण-कोष कायम किया जाय जो निम्न जरूरतों को पूरा करे—

(अ) कुछ योग्य रिसर्च विद्वानों को मासिक छात्रवृत्ति दी जाय।

(ब) सर्व साधारण की समझ मे आ जाय, ऐसी पुस्तकों का प्रकाशन किया जाय। इनके द्वारा जैन धर्म के सिद्धातों का प्रचार किया जाय और खासकर सारी मानवजाति के लिए अहिंसा का अमर संदेश दिया जाय।

(स) कलकत्ते के एक शान्त भाग में अन्तर्राष्ट्रीय अतिथि-भवन कायम किया जाय, जहा बंगाल के बाहर से और विदेशों से खास तौर पर जैन धर्म और संस्कृति का ज्ञान हासिल करने के लिए आने वाले प्रसिद्ध विद्वानों को स्वागत पूर्वक ठहराया जाय। इस प्रकार का आतिथ्य-केन्द्र जैन समाज की शोभा बढ़ावेगा और भारतवर्ष के जैनियों तथा विदेशों के जैन धर्म प्रेमियों के बीच घनिष्ट सम्बन्ध बढ़ावेगा।

अनुवादक—श्री भंवरमल सिंघी

भगवान् महावीर की अहिंसा

[वक्ता—पंडित दरबारीलालजी 'सत्यभक्त', वर्धा]

— : :—

अहिंसा आद्य धर्म है और मूल धर्म भी है। आद्य इसलिये कि मनुष्य ने या प्राणी ने सबसे पहिले इसे ही सीखा और मूल इसलिये कि धर्म के जो दूसरे आचार हैं, वे सब इसीलिये धर्म कहलाते हैं कि उनके मूल में अहिंसा है। सच पूछा जाय तो अहिंसा ही मनुष्यत्व का चिह्न है।

यह अवश्य शर्म की बात है कि मनुष्यों में जहाँ अहिंसा के उपासक हैं, वहाँ सामान्यतः मनुष्य ही सब से क्रूर प्राणी बन गया है। यों तो हम क्रूर पशुओं में शेर, साँप आदि प्राणियों

को लिया करते हैं पर मनुष्य की क्रूरता के आगे इनकी क्रूरता पानी भरेगी। शेर आदि की क्रूरता में न तो इतना असंयम है और न इतनी मूर्खता जितनी मनुष्य की क्रूरता में है। शेर आदि तभी शिकार करते है, जब वे भूखे होते है। पेट भरने पर गुफा मे पड़े रहते है। लेकिन मनुष्य का पेट कभी भरता ही नहीं; लखपति, करोड़पति होने पर भी वह दुनिया को लूटते ही रहना चाहता है। राजा बनने पर सम्राट् होना चाहता है, सम्राट् बनने पर दूसरे सम्राटों को मिटा देना चाहता है। अगर सारी पृथ्वी उसके पेट मे आ जाय तो वह खाने की नीयत से सूर्य, चन्द्र, तारों की तरफ भी नजर दौड़ायेगा। बेचारे शेर का क्या दम है जो ऐसे भयकर प्राणी मनुष्य की बराबरी करे ?

क्रूरतापूर्ण मूर्खता मे भी शेर मनुष्य की बराबरी नहीं कर सकता। शेर सब का शिकार करेगा पर अपनी जाति के प्राणी का अर्थात् दूसरे शेर का शिकार न करेगा, पर मनुष्य तो मनुष्य का शिकार करता है, और उसे नाना तरह से चूसता है। नाना तरह से लाखों आदमियो को मार डालता है, धर्म के नाम पर भी उन्हें नहीं छोड़ता। ये सब क्रूरताएं और मूर्खताएँ शेर मे कहाँ है ? इसीलिये शायद जैन शास्त्रों का मत है कि शेर मे अधिक से अधिक पाचवें नरक तक जाने की योग्यता है जब कि मनुष्य मे सातवें नरक तक की। मच्छ मे भी यह योग्यता मानी गई है पर उसमे मनुष्य के साथ एक तरह की

समानता है। मनुष्य मनुष्य का शिकार करता है, मच्छ मच्छ का शिकार करता है।

कुछ भी हो, पर इसमे शक नहीं कि मनुष्य काफी क्रूर प्राणी है। फिर भी वह पशुओं की अपेक्षा संयम मे अधिक बढ-चढ गया है। दूसरे के अधिकारों की परवाह करना मनुष्य मे ही अधिक से अधिक सम्भव है और बहुत से मनुष्य इस तरफ बढे भी हैं। इसका कारण यह है कि मनुष्यजाति के सौभाग्य से उसमे अनेक महात्मा पैदा होते रहे हैं जो पशुता और बर्वरता से छूटकर दूसरे मनुष्यों को भी छुडाते रहे हैं। उन्होंने खुद जी कर भी दूसरों को जीने देने का पाठ पढाया है। उस पाठ को जीवन मे उतार कर बताया है। ऐसे महात्माओं मे जैन तीर्थंकर महावीर स्वामी का नाम अधिक से अधिक चमकता है।

महावीर स्वामी अहिंसा के महान् आचार्य है। इसीलिये जैन धर्म अहिंसा धर्म के नाम से कहा जाता है। पर अहिंसा के नाना रूप हैं। उन सब रूपों का समय समय पर जीवन मे उपयोग भी किया जाता है। पर हर एक आदमी के जीवन मे अहिंसा का कोई एक रूप इस प्रकार चमकने लगता है कि दर्शकों का दूसरे रूप की तरफ ध्यान भी नहीं जाता। कभी कभी ऐसा भी होता है कि अहिंसा के किसी एक रूप की साधना महात्मा को करनी पडती है, इसलिये उसके अनुयायी समझने लगते हैं कि बस, इतनी ही अहिंसा है।

महावीर स्वामी ने अहिंसा के ऊँचे से ऊँचे रूप को जीवन में उतार कर बताया है पर अहिंसा को न तो उन्होंने अव्यवहार्य बनने दिया, न किसी एकान्तवाद का समर्थन किया। वे अहिंसा के एक रूप पर खड़े होकर भी अंगुली से अहिंसा के सभी रूपों की तरफ इशारा करते रहे हैं, परन्तु उनको न समझ कर बहुत से मनुष्यों ने बड़ी गलती की है।

एक आदमी किसी को अङ्गुली से रास्ता बताये, पर रास्ता पूछने वाला अङ्गुली की तरफ रास्ता न देख कर यही देखे कि अङ्गुली में ही रास्ता है या जहाँ तक अङ्गुली है वहीं तक रास्ता है तो जिस प्रकार वह भूल करेगा, उसी प्रकार हम महात्माओं के पथ-निर्देश को समझने मे भूल करते हैं। हमें उनका संकेत समझना चाहिये, पूरी दिशा पर नजर डालना चाहिये। जहाँ वे खड़े हैं, वहीं रास्ता देख कर न रह जाना चाहिये।

इसीलिये महावीर स्वामी ने पद-पद पर अनेकान्त पर जोर दिया है। उनका अहिंसा धर्म केवल बाह्याचार पर निर्भर नहीं है किन्तु बाह्याचार के भीतर रहने वाले परिणाम और उसके ध्येय पर निर्भर है।

जैनाचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने इस विषय को बहुत ही साफ शब्दों में बतलाया है। उनका कहना है—

कोई मनुष्य हिंसा न करके भी हिंसा का फल पा लेता

है, कोई हिंसा करके भी हिंसा का फल नहीं पाता। किसी की हिंसा थोडी मालूम होती है, पर उसका फल बड़ा होता है, किसी की हिंसा महाहिंसा मालूम होती है, पर फल थोडा होता है। एक ही हिंसा किसी को तीव्र फल देती है, किसी को मन्द फल देती है। किसी की हिंसा हिंसाफल होती है, किसी की हिंसा अहिंसाफल होती है। हिंसा क्या है? हिंसा किसकी की जा रही है? हिंसक कौन है? उस का फल क्या होने वाला है?—इन सब बातों का अच्छी तरह तत्त्व-दृष्टि से विचार करके हिंसा का त्याग करना चाहिये।*

इससे मालूम होता है कि जैन धर्म हिंसा-अहिंसा के चार भेद मानता है—अहिंसारूप अहिंसा, हिंसारूप अहिंसा, अहिंसारूप हिंसा और हिंसारूप हिंसा। पहिले दो भेद

* अविधायापि हि हिंसां हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसां हिंसाफलभाजनं न स्यात्॥ ५१॥
एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम्।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके॥ ५२॥
कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले।
अन्यस्यैव सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलम्॥ ५६॥
अवबुध्य हिंस्य हिंसक हिंसा हिंसाफलानि तत्त्वेन।
नित्यमवगूहमानैः निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा॥ ६०॥
—पुरुषार्थसिद्धयुपाय।

अहिंसा के हैं जो कि कर्तव्य हैं, पिछले दो भेद हिंसा के हैं, इसलिये अकर्तव्य हैं—पाप हैं।

महावीर स्वामी की अहिंसा क्या है, वह कितनी व्यापक और व्यवहार्य है, इसका पता उपर्युक्त वाक्यों से मिल सकता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि हिंसा-अहिंसा के विषय में जैन शास्त्रों में चार भङ्ग हैं—१—हिंसा अहिंसाफल, २—अहिंसा हिंसाफल, ३—अहिंसा अहिंसाफल, ४—हिंसा हिंसाफल।

हिंसा करके भी हमें अहिंसा का फल मिल सकता है। न्याय-रक्षा के लिये कभी हिंसा करना पड़े तो वह अहिंसा ही समझना चाहिये क्योंकि न्याय की रक्षा न की जाय तो उससे कई गुणी हिंसा होती है। उस हिंसा को रोकने के कारण उस अल्प हिंसा को अहिंसा कहते हैं। भगवान राम अगर रावण का वध न करते तो घर घर रावण पैदा होते, घर घर की सीताओं का शील नष्ट होता, कुटुम्ब-संस्था नष्ट हो जाती।

इसी प्रकार अहिंसा भी हिंसाफल हो जाती है। अन्याय और अन्यायी की रक्षा करने में अहिंसा हिंसा ही है।

यही कारण है कि जैन धर्म में जहाँ वायु और जल के सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवों की भी रक्षा करने का विधान है, वहाँ न्याय-रक्षा या जन-कल्याण के लिये मनुष्य-वध तक के लिये

भी छूट है। जैन पुराणों को देखने से पता चलता है कि जैनियो के जितने महापुरुष है, जिन्हे शलाका पुरुष कहते है, वे सब के सब क्षत्रिय है, जिन्होने बड बडे युद्ध भी किये है पर अन्याय से किसी कीडी को मारने मे भी जिन्हे पाप मालूम होता रहा है।

विधान के अनुसार भी जैन शास्त्रों मे हिंसा के चार भेद किये गये है—संकल्पी, आरम्भी, उद्योगी, विरोधी। किसी निरपराध प्राणी को इरादापूर्वक मारना संकल्पी हिंसा है, जैसे कि मास-भक्षण के लिये या शिकार के लिये प्राणी का घात करना। रोटी पकाने या सफाई करने मे जो आनुषंगिक हिंसा हो जाती है, वह आरम्भी हिंसा है। खेती तथा अन्य उद्योगो मे जो हिंसा होती है, वह उद्योगी हिंसा है। आत्म-रक्षण के लिये या न्याय-रक्षण के लिये युद्ध मे जो हिंसा होती है, वह विरोधी हिंसा है।

इन चार हिंसाओ में संकल्पी हिंसा पर ही जोर दिया जाता है, बाकी तीन हिंसाए यथा-सम्भव कम करनी चाहिये, ऐसा ही विधान है। हा, महावीर स्वामी ने धर्म-प्रचार करने के लिये तथा लोगों मे शान्ति, न्याय, निस्पृहता का प्रचार करने के लिये जो साधु-संस्था खडी की थी, उसमे अवश्य ही आरम्भी, उद्योगी, विरोधी हिंसा के त्याग को भी असाधारण बताया गया था। और खुद महावीर स्वामी तो उससे भी

अधिक मात्रा में अहिंसा का पालन करते थे। इसका मतलब यह कि लोग समझें कि अहिंसा का पालन अधिक से अधिक कितना तक किया जा सकता है। पर वह तो एक तरह का रिकार्ड है। मोटर गाड़ी की तेज गति का रिकार्ड अगर दो सौ या तीन सौ मील हो तो भी कलकत्ते की सड़कों पर उसका उपयोग नहीं करने दिया जायगा। वह बिलकुल खुली जगह के लिये है। महावीर स्वामी सरीखे उन्मुक्त महापुरुष के जीवन में जो रिकार्ड दिखाई दिया, वह समाज की व्यवस्था सम्बन्धी जिम्मेदारी को उठाने वाले शासक या नगर-रक्षकों में नहीं दिखाई दे सकता। इसी लिये जैन धर्म हर बात में द्रव्य-क्षेत्र-काल—भाव पर जोर देता है। साधु के लिये जो अकर्तव्य हो सकता है, वह एक श्रावक या गृहस्थ के लिये कर्तव्य हो सकता है। एक जगह जो अकर्तव्य है, दूसरी जगह वही कर्तव्य हो सकता है। एक समय जो अकर्तव्य है, दूसरे समय वही कर्तव्य हो सकता है। दुर्भाव से जो अकर्तव्य है, वही सद्भाव से कर्तव्य हो सकता है। इस प्रकार हर एक बात का, हर एक आचार का, या हिंसा-अहिंसा का विचार अनेकान्त दृष्टि से जैन धर्म ने किया है। उसे अच्छी तरह समझ कर ही आप महावीर स्वामी की अहिंसा को समझ सकते हैं।

कोई भी महापुरुष हो, वह जीवन के सभी रूपों का चित्रण

अपने एक जीवन में नहीं कर सकता। वह कोई एक रूप चुन लेता है और अपने अनुयाइयों को योग्यतानुसार और इच्छानुसार अच्छे रूप चुनने का अवसर मिले, विधान मे ऐसी गुजाइश रखता है। महावीर स्वामी स्वयं नग्न रहते थे पर इन्द्रभूति गौतम आदि अपने शिष्यों को कपड़े पहनने की भी उन्होंने गुजाइश दे रक्खी थी। मोक्ष का मार्ग ऐसा प्रशस्त बतलाया था कि गृहस्थ-वेप तथा अन्य धर्मों की अनेक तरह की साधु-संस्थाओं के वेप से भी मोक्ष-मार्ग मे कोई बाधा न मानी थी। इस प्रकार अहिंसा की नाना साधनाओं मे से रुचि और परिस्थिति के अनुसार उन्होंने कुछ साधनाएँ अपने लिये चुन लीं किन्तु विधान हर एक साधना का बनाया जिससे हर परिस्थिति मे अहिंसा का पालन किया जा सके और समाज मे सुव्यवस्था भी कायम रहे। -

महावीर स्वामी की अनेकान्त रूप अहिंसा को समझने मे आज का जैन समाज भूला हुआ है। उसकी नजर सिर्फ द्रव्य हिंसा अर्थात बाहरी हिंसा-अहिंसा पर है। वे अहिंसा की ओट मे छुपी हुई हिंसा को और हिंसा की ओट मे छुपी हुई अहिंसा को नहीं देखना चाहते। जैन समाज ही क्या, यह बीमारी इस देश भर मे कुछ कुछ बढ़ रही है। अहिंसा की ओट मे कायरता राज्य जमा रही है और वीरता पर हिंसा की छाप मारी जा रही है। महावीर स्वामी की अहिंसा ऐसी बहिर्मुखी

नहीं है। फलाफल—विवेक और परिणामों का विचार किये विना उसका समझना और पालन करना असम्भव है।

आज हमारे देश मे हिंसा-अहिंसा के ऊपर बहुत विवाद चल रहा है, इसमें सन्देह नहीं कि पुराने जमाने की अपेक्षा आज दुनिया की समस्याए बहुत जटिल हैं फिर भी ऐसी कोई बात नहीं है जिससे हिंसा या अहिंसा के एकान्तवाद का समर्थन करना पड़े। महावीर स्वामी की अहिंसा और अन्य महात्माओ की अहिंसा के अध्ययन करने से, काफी विचार करने से इस विषय मे मेरे जो कुछ विचार बध गये हैं, उन्हें मैं लिख लाया हूं। उन्हें पढ देने से मेरे विचार बहुत कुछ साफ हो जांयगे।

१—प्राय. सभी लोग अमुक मात्रा मे अहिंसावादी हैं और सभी अमुक मात्रा मे हिंसा को क्षन्तव्य मानते है। इसलिये अहिंसा-हिंसा का विवाद उसकी मात्रा का विवाद है, एकान्त अहिंसा-हिंसा का नहीं।

२—जो न्याय का अनुकरण करती है, वह बाहर से हिंसा होकर भी अहिंसा है क्योकि उससे बहुजन-हित होता है अर्थात हिंसा की उपेक्षा अहिंसा अधिक होती है और अन्याय का मार्ग रुकता है अर्थात् दूसरी हिंसाएँ रुकती है। इसलिये अहिंसक बनाने की उपेक्षा न्यायी बनाना ज्यादा जरूरी है। जहाँ

न्याय है, बहुजन-हित है, सत्य है, वहाँ हिंसा भी अहिंसा है, जहाँ न्याय आदि का विरोध है, वहाँ अहिंसा भी हिंसा है।

३—जहाँ न्याय की विजय हिंसा और अहिंसा से एक समान हो सकती हो और हम मे दोनों की शक्ति हो, वहाँ अहिंसा का मार्ग ही पकडना चाहिये।

४—हमे विश्वास रखना चाहिये कि बहुत से काम जो आज हिंसा से ही सफल हो सकते हैं, वे एक दिन अहिंसा से भी सफल हो सकेंगे। इसलिये पुराने जमाने मे कोई कार्य हिंसा से ही सफल हुआ, इसलिये आज भी हिंसा से ही सफल होना चाहिये, ऐसा नियम नहीं है। हमे अपनी परिस्थिति, शक्ति और फलाफल-विचार के द्वारा अहिंसा की सात साधनाओ मे से उचित साधना चुन लेनी चाहिये।

अहिंसा की सात साधनाएँ निम्नलिखित हैं—

(क) आदर्शदर्शनी, (ख) आग्रहिणी, (ग) वैफल्यदर्शनी, (घ) प्रेमदर्शनी, (ङ) उपेक्षणी, (च) शिक्षणी, (छ) संहारिणी।

क—अपना जीवन ऐसा निष्पाप, अहिंसक, दयालु सत्याचरण मय बना कर रक्खा जाय कि उसे देख कर लोग अहिंसक जीवन की ओर आकर्षित होने लगे, यह आदर्शदर्शनी साधना है।

ख—पाप, अन्याय, अत्याचार के मार्ग में इस प्रकार अड़ जाना जिससे पापी को पाप करना कठिन हो जाय। अगर

वह हमें मार कर पाप कर भी ले तो उसके अन्तस्तल में ऐसा दंश होता रहे कि वह पाप का मार्ग सदा के लिये छोड़ दे। इसे सत्याग्रह भी कहते हैं।

ग—अपनी दृढ शक्ति और निर्भयता से दूसरे के दिल पर यह छाप डाली जाय कि वह अन्याय करके भी उसकी निष्फलता का अनुभव कर सके। जैसे किसी ने हमें तमाचा मारा और हमने दूसरा गाल आगे करके कहा—लीजिये, एक तमाचा और मारिये। यह वैफल्यदर्शनी साधना है।

मारने वाले ने तमाचा इसलिये मारा था कि पिटने वाला डर जायगा, झुक जायगा। पर जब वह देखता है कि तमाचे ने तो उसमें भय की अपेक्षा निर्भयता को ही जगाया है, तब तमाचे की विफलता से वह हट जाता है।

घ—पापी के साथ ऐसी सहानुभूति दिखाई जाय कि वह हमें अपना मित्र या उपकारी समझने लगे और हमारी सहानुभूति, उदारता आदि के आगे लज्जित हो जाय। इस तरह पाप से विरक्त हो जाय, यह प्रेमदर्शनी साधना है।

ङ—पापी पर ऐसी उपेक्षा बताई जाय कि वह पाप की निष्फलता समझ सके, जिस प्रकार महावीर स्वामी उपसर्ग आने पर करते थे। यह उपेक्षणी साधना है।

च—उपदेश दे कर दूसरों को पाप के मार्ग से हटाया जाय, यह शिक्षणी साधना है।

छ—अन्याय या पाप को दूर करने के लिये या उसके फल से बचने-बचाने के लिये अन्यायी या पापी को दंड दिया जाय. जैसा कि रामचन्द्रजी ने सम्राट् रावण को दिया था। यह संहारिणी साधना है।

अहिंसा की इन सात साधनाओ मे किस साधना का स्थान कहाँ है, किसका उपयोग कब करना चाहिये, यही सब से बड़ी महत्त्व की बात है। इस विवेक के बिना, सत्य के बिना, अहिंसा का सदुपयोग नहीं किया जा सकता। भगवान् के बिना भगवती विधवा है, सत्य के बिना अहिंसा विधवा है।

अमुक समय या अमुक जगह के लिये किसी एक साधना पर जोर देना ठीक कहा जा सकता है पर दूसरी साधनाओं की उपयोगिता का विरोध न करना चाहिये।

ये जो सात साधनाएँ हैं, उनमें संहारिणी के सिवाय सभी साधनाएँ प्रबोधनी साधनाएँ हैं। इन दोनो मे विरोध नहीं है। जहाँ जिसकी जैसी उपयोगिता हो, वहाँ उसका वैसा उपयोग करना चाहिये।

५—प्रायः सभी धर्मों ने अहिंसा पर जोर दिया है पर सभी ने प्रबोधनी और संहारिणी दोनों साधनाओं का विधान बताया है। अन्याय के विरोध के लिये या न्याय के रक्षण के लिये बाहरी हिंसा को भी स्थान दिया है।

६—अन्याय के विरोध मे हम हिंसा करें या न करें पर

पर्युषण पर्व व्याख्यानमाला

हिंसा करने का अर्थात् अहिंसा की संहारिणी साधना का हमें अधिकार अवश्य है। अहिंसा के नाम पर हमें उचित हिंसा करने का—संहारिणी साधना का अधिकार न खोना चाहिये।

७—हमारे दंड-विधान में जीवन-शुद्धि का अधिक से अधिक अवसर होना चाहिये। हिंसात्मक दंड द्वारा सिर्फ बदला लेने की भावना न हो। पर इसका भी खयाल रखना चाहिये कि अपराधी के मन से पाप-भय नष्ट तो नहीं होता, साथ ही जिसका अपराध किया गया है उसके मन में असंतोष तो नहीं रहता? ये दोनों ही सम्भव हैं, इसलिये दंड-विधान में उचित हिंसा को स्थान रहना चाहिये। हां, हम यह कोशिश करें कि लोग अपराधी होने पर प्रायश्चित्त के समान स्वेच्छा से वह दंड सहने को तैयार रहें। मतलब यह कि दंड-विधान में से हिंसा को हटाने की जरूरत नहीं है किन्तु जनता को इतना तैयार करने की जरूरत है कि लोग उसे प्रायश्चित्त समझ कर स्वीकार करें।

८—हम चाहे प्रबोधनी साधना अर्थात अहिंसा रूप अहिंसा करते हों, चाहे संहारिणी साधना अर्थात् हिंसा रूप अहिंसा करते हों, हमें दोनों में सतर्क और फलाफल-विवेकी बनना चाहिये। अगर हम हिंसा रूप अहिंसा का पालन या आन्दोलन करते हों तो निम्न लिखित बातों का खयाल रखना चाहिये—

भगवान् महावीर की अहिंसा

(क) न्याय कराने के नाम पर हम इतने उत्तेजित तो नहीं है कि जरूरत से ज्यादा हिंसा कर जायें और चिरस्थायी वैर बसा लें।

(ख) प्रारम्भिक जागृति के लिये अहिंसा रूप आदोलन ही विशेष उपयोगी होता है।

(ग) झूठे भ्रमों से जहाँ मनुष्य विरोधी बन जाता है, वहाँ अहिंसा बहुत सार्थक होती है। अगर अपने दिल में प्रेम हो तो बहुत कुछ सफलता मिल सकती है। धर्म-प्रचार मे इसी नीति की जरूरत है। धर्मान्धता, जात्यन्धता आदि के कारण जहाँ झगडे होते हैं, वहाँ भी अहिंसा रूप नीति की ही अधिक उपयोगिता है। हा, जहाँ स्वार्थान्धता है, वहाँ कुछ हिंसा रूप नीति की भी आवश्यकता होती है।

(घ) ऐसे अवसर आते हैं, जब हम हिंसा रूप अहिंसा आवश्यक होने पर भी नहीं कर सकते। उस समय अहिंसा रूप अहिंसा का उपयोग करना-- शान्त आदोलन करना उचित है। इसलिये अमुक समय तक हिंसा रूप आंदोलन बन्द ही रखना चाहिये।

(ग) इसका खयाल रहे कि अपनी शक्ति बता कर बड़प्पन सिद्ध करने के लिये हिंसा न हो।

(घ) न्याय की मुख्यता है कि नहीं? ऐसा न हो कि संहारिणी साधना के नाम पर हम स्वार्थ-साधना करने बैठ जायें।

पर्युषण पर्व व्याख्यानमाला

६—अहिंसा रूप अहिंसा अर्थात् प्रबोधनी साधना में भी हमें निम्न लिखित बातों का विचार करना चाहिये।

(क) भगवती अहिंसा के साम्राज्य के लिये तीन बातों की जरूरत है—

(१) रंग, राष्ट्र, प्रान्त तथा अन्य जातीयताएँ नष्ट हो जाँय, धर्मान्धता भी न रहे, जिससे अन्याय व्यक्ति तक सीमित रहे, वर्ग अन्यायी न बने।

(२) पहिला काम हो जाने पर जन्म से ही मनुष्य को ऐसा शिक्षण दिया जाय जिससे उसे अन्याय से घृणा हो जाय, खास कर मार-पीट या खून-खराबी न करे।

(३) इस प्रकार समाज सुसंस्कृत होने पर भी अगर कोई व्यक्ति अन्यायी हो जाय तो कहीं भी उसे पीठ-बल न मिले। इस प्रकार समाज का न्यायी संगठन व्यक्ति को अत्याचार से विरक्त होने के लिये विवश करदे।

ये तीन बातें जितनी मात्रा में सफल होंगी, अहिंसा रूप व्यवस्था उतने ही अंशों में सफल होगी। इनके बिना अगर हम अहिंसा रूप व्यवस्था करने जायँगे तो असफल होकर अहिंसा को बदनाम करायँगे।

(ख) व्यक्तिगत रूप में अहिंसा का पालन सरल है। एक

व्यक्ति अन्याय को सह कर अक्षुब्ध रह सकता है पर समाज में इतनी सहिष्णुता होना कठिन है। इसलिये वैयक्तिक साधना को सामाजिक साधना बनाने में खूब सतर्क रहना चाहिये। यह न भूलना चाहिये कि समाज के लिये न्याय-रक्षा मुख्य है, चाहे वह अहिंसा से हो या हिंसा से। जनता को न्याय की पहिली जरूरत है, अन्यायी के सुधार की पीछे। अन्यायी का सुधार भी वह न्याय-रक्षा के लिये चाहती है।

(ग) अहिंसा रूप कार्य में भी सफलता की वहीं अधिक सम्भावना रहती है, जहाँ उसके पीछे हिंसा-शक्ति का बल रहता है। वह बल जितना शिथिल होता है, अहिंसा उतनी ही असफल होती है क्योंकि कमजोर की अहिंसा को लोग अहिंसा नहीं समझते ; उसे निर्बलता का परिणाम समझते हैं। हिंसा-शक्ति के बिना अगर हमें कभी न्याय भी मिलता है तो वह दया कहलाता है, जिससे लेनेवाले में दयनीयता और देनेवाले में दुरभिमान पैदा होता है। इतना ही नहीं, वह अपनी स्वार्थ-वासना पर छल से परोपकार का आवरण डालता है, पर न्याय नहीं करता।

गाय हमें खेती के लिये बछड़े देती है, पीने को दूध देती है और अहिंसक रहती है। इससे हमारे दिल पर यह असर हुआ है कि हमने गो-वध छोड़ दिया है, गो माता कहने लगे हैं, कभी कभी उसकी पूजा भी कर देते हैं पर उसका चूसना

नहीं छोड सके हैं। अगर कोई हिंसा-शक्ति रहित होकर अहिंसा से किसी का दिल पिघला दे, तो इतना ही होगा कि उस अहिंसक की तारीफ की जायगी, मर न जाय इस खयाल से रक्षा भी होगी पर उसका चूसना न छोड़ा जायगा, वह स्वतंत्र न बनाया जायगा।

अन्यायपूर्ण हिंसा से नर-संहार होता है और सभी की हानि होती है। इसलिये जब हम हिंसा से ऊब कर हिंसक लोग समभावी समझौता कर लेते हैं, तब भी हिंसाशक्ति-हीन अहिंसकों को वे चूसते रहते हैं और कहते रहते हैं कि हम तो इन निर्बलों की रक्षा और भलाई करते हैं। इस प्रकार बलवानों में ही अहिंसा का साम्राज्य जमता है। हिंसाशक्ति-हीन अहिंसकों मे तो निर्बलता, कायरता, झुंझलाहट और फूट ही फैलती है अथवा वे दयनीय बन कर कुछ टुकड़े ही पाते हैं।

यद्यपि हिंसा-शक्ति वाले भी कुचले जा सकते हैं पर बहुत समय तक उनको ऐसा दबा कर नहीं रक्खा जा सकता, जिससे अन्यायी शोषण कर सके और आर्थिक लाभ मे रहे। शेरनी को हम मार सकते हैं, पिंजड़े मे कैद कर सकते हैं पर उसे ऐसा नहीं दुह सकते कि हम आर्थिक लाभ में रहें। उसे कैद रखना हमें भारी पड़ जाता है।

इस मुद्दे का सार यह है कि हमें अधिक से अधिक अहिं-सक बनना चाहिये पर उसकी सफलता के लिये, उसे प्रभाव-

शाली बनाने के लिये अधिक से अधिक शक्तिशाली भी बनना चाहिये। संयम और शक्ति दोनो के समन्वय के बिना अहिंसा की विजय नहीं हो सकती। इसी भाव को बतलाने के लिये मैंने भगवती अहिंसा की मूर्ति के एक हाथ मे शान्ति दिखलाई है और दूसरे हाथ मे गदा दे कर शक्ति बतलाई है। यह मूर्ति सत्याश्रम, वर्धा के धर्मालय मे विराजमान है।

(घ) अगर कभी राजकीय अन्याय को हटाने के लिये अहिंसा-रूप क्रान्ति करना हो तो यह देख लेना चाहिये कि सब जनता मे एक महात्मा के बराबर अटूट सहनशीलता है कि नहीं और वह दो-चार वर्ष भी टिक सकती है या नहीं? इस बात का भी खयाल रखना चाहिये कि सामूहिक उत्साह की उम्र बहुत बड़ी नहीं होती, उसके ठंडे पडते ही आन्दोलन निष्फल कर दिया जाता है। इसलिये कार्य-क्रम ऐसा हो कि उसमें अधिक समय तक के उत्साह की आवश्यकता न रहे। अगर ऐसा कार्यक्रम अपने पास न हो या जनता की तैयारी न होने से वह अमल मे न आ सकता हो या वह मानव-स्वभाव के विरुद्ध पडता हो तो अहिंसा रूप क्रान्ति मे हाथ न डालना चाहिये या उस पर बहुत जोर न देना चाहिये। साधारणतः अहिंसा रूप आन्दोलन मे देश की समस्त जनता का पूरा सहयोग चाहिये। अगर सौ मे

दस आदमी भी हमारे विरोधी हों या पीडक के साथ सह-
योग करने को राजी हों तो भी पीडक का अन्याय चालू रह
सकता है। नब्बे का असहयोग निरर्थक जा सकता है। हिंसा
रूप आन्दोलन मे सौ मे दस का भी साथ हो तो क्रांति सफल
हो सकती है।

इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि हिंसा का शस्त्र
सरल है, बहुजन उसका सरलता से उपयोग कर सकते हैं। अहिंसा
का शस्त्र महात्मा ही चला सकते है, उसके लिये विशाल प्रेम
चाहिये। साधारण लोगों मे मोह तो होता है जिसका कुटुम्बी
और मित्रों में उपयोग किया जाता है, पर प्रेम नहीं होता।
मारते मारते मनुष्य बहुत कुछ सहन कर जाता है पर शक्ति
रहते हुए भी बिना मारे सहन कर सकना—वह भी अन्यायी
का अन्याय, यह हर एक के वश की बात नहीं है। अहिंसा
रूप आन्दोलन छेड़ने के पहिले हमें इस मानव-प्रकृति का भी
खयाल रखना चाहिये।

(ड) अधिकाश मनुष्य ऐसे होते हैं कि हम अहिंसा रूप
उन से उतना न्याय नहीं पा सकते जितना हिंसा रूप आन्दोलन
मे हार कर भी पा सकते हैं। अफ्रिका में बोअर हार कर
भी जो पा सके, वह हिन्दुस्तानी लोग जीत कर भी नहीं पा
सके या जो थोड़े बहुत टुकड़े पा सके, वह भी सुरक्षित न रहने

पाये। इसलिये यह भी देखना चाहिये कि किस प्रकृति के लोगों से काम पडा है।

(च) अहिंसारूप आन्दोलन में यह सुभीता है कि उसमे सहन कम करना पडता है। हिंसारूप आन्दोलन में सहन ज्यादा करना पड़ता है पर बहुत बार ऐसा होता है कि हिंसारूप आन्दोलन मे एक साथ बहुत सहने की अपेक्षा अहिंसारूप आन्दोलन मे धीरे धीरे सहने की मात्रा बहुत हो जाती है। इतने पर भी फल नहीं के बराबर होता है। इसलिये फलाफल विचार कर के और सहन करने की मात्राओं का विचार कर के आन्दोलन के रूप का निश्चय करना चाहिये।

अहिंसा के व्यावहारिक रूप के विषय में और भी बहुत कुछ कहा जा सकता है और इस प्रकार की सूचनाएँ दी जा सकती है पर व्याख्यान में तो मैं सिर्फ दिशा बतला सकता हू। जिन शब्दों मे मैं भगवती अहिंसा का वर्णन कर रहा हूं और आधुनिक युग को देखते हुए जिन शब्दों में ये सूचनाएँ लिखी है, ठीक उन शब्दों में जैन शास्त्रों का वर्णन नहीं मिलता, पर हिंसा-अहिंसा का जैसा विस्तृत और विवेचनात्मक वर्णन जैन शास्त्रों मे पाया जाता है, जैनियों के कथा-साहित्य को देखते हुए जो अहिंसा का व्यवहार्य रूप हमे दिखाई देता है, उनमें हिंसा भी अहिंसा और अहिंसा भी हिंसा कह कर जो भगवती अहिंसा का व्यापक और असली रूप बनाया गया

है, कार्य पर नहीं किन्तु कार्य के मूल मे रहने वाले भाव पर जिस प्रकार हिंसा –अहिंसा का निर्णय किया गया है, उससे महावीर स्वामी की उस व्यापक अहिंसा का पता लगता है जो बुद्धिगम्य है, अनेकान्तमय है, व्यवहार्य है। उसी के अनुसार ये सूचनाएँ कही जा सकती हैं जिनका उल्लेख मैंने यहाँ किया है।

आज देश मे जो अहिंसात्मक आन्दोलन चल रहा है, वह जैन धर्म मे वर्णित व्यापक अहिंसा का एक अंश है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि अहिंसा के किसी एकाध अंश को लेकर ही किसी एक समय काम लिया जाता है पर दूसरे अंगों को ध्यान मे न रखना या उनका एकान्तिक विरोध करना अहिंसा की उपासना नहीं है क्योंकि इसमे अनेकान्त नहीं है, भगवान सत्य नहीं है। महावीर स्वामी एकान्तवाद के विरोधी थे बल्कि प्राय' सभी धर्म-संस्थापक एकान्तवाद के विरोधी रहे। हम समय, शक्ति आदि के अनुसार अहिंसा के किसी भी एक रूप की साधना कर पर हमे दूसरे अंगो की साधना की उपेक्षा न करनी चाहिये, विरोध तो करना ही नहीं चाहिये। बल्कि सभी तरह के साधक सहयोग से काम लें। इसी मे भगवान सत्य की सेवा है और उसमे हमारा या जगत का कल्याण है।

महावीर स्वामी की इस व्यापक अहिंसा पर नज़र डालने

से यह पता लगता है कि ऐसी अहिंसा के पास कायरता नहीं फटक सकती, न इससे कोई देश गुलाम बन सकता है। आज मुझे समय नहीं है, नहीं तो, मैं यह बतलाता कि 'जैन धर्म की अहिंसा से भारत गारत हुआ' यह कथन कितना मिथ्या है। इस विषय मे मैं इतना ही कहूगा कि वर्ण-व्यवस्था का दुरुपयोग, अन्धविश्वास, छुआछूत का भूत और फूट हमारी पराधीनता के कारण हैं, सिकन्दर से ले कर ईस्ट इंडिया कम्पनी के आक्रमणों तक जिन जिन हमलों मे हम हारे, उन सब में ये ही कारण हैं, अहिंसा नहीं। और खासकर महावीर स्वामी की अनेकातमय अहिंसा का तो उन पराजयों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

हां, इतना अवश्य कहूंगा कि महावीर स्वामी द्वारा प्रतिपादित अहिंसा मे और आजकल जैन समाज में जो अहिंसा दिखाई देती है उस अहिंसा मे जमीन-आसमान का अन्तर है। और यह दुर्दशा सब जगह है। ईसा कहाँ और ईसाई कहाँ? मर्यादा पुरुषोत्तम रामचंद्रजी कहाँ और हिन्दू कहाँ? हजरत मुहम्मद कहाँ और मुसलमान कहाँ? मैं तो आज आज के जैनियों की नहीं, महावीर स्वामी को अहिंसा के विषय मे कहने बैठा था या खड़ा था, सो कह दिया।

मैंने आपका बहुत समय खा लिया और बदले मे बहुत सा परोस दिया, खासकर जल्दी जल्दी बोल कर तो आपको

परेशान ही कर दिया। इस तरह एक ही समय खाना और परोसना दुहरी हानि है या दुहरा लाभ या इकतरफी हानि या इकतरफा लाभ, यह मैं नहीं जानता पर लाभ भी मात्रा से अधिक होने पर अपथ्य हो सकता है। इसलिए अब अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ।

अहिंसा का पुनरुद्धार

[वक्ता—श्री सतीशचन्द्र दासगुप्त, सोदपुर (बंगाल)]

—ooo—

हमारे सामने प्रश्न यह है कि अहिंसा का पुनरुद्धार कैसे हो? यह प्रश्न खुद-ब-खुद इस बात को स्वीकार कर रहा है कि पहले अहिंसा समाज मे थी, किन्तु अभी नहीं है और इसीलिये अब उसका पुनरुद्धार करना है। बच्चा जैसे सहज भाव से माता के स्तन से दूध पिया करता है, दूध पीने के लिये उसे कोई कोशिश नहीं करनी पडती, उसी तरह बिना किसी प्रयास के सहज भाव से समाज पहले अहिंसा का पालन करता था। उस समय समाज स्वभाव से ही अहिंसा

का अमृत-पान करता था। किन्तु आज समाज मे इतने साधु, भिक्षु व संन्यासियों के मौजूद रहते हुए भी वह अहिंसा नहीं है, इसीलिये अहिंसा के पुनरुद्धार की बात उठती है।

अहिंसा की आवहवा मे ही भारतवर्ष की समाज-रचना हुई थी। यहां के सारे आचार व आचरण मे, सारे धर्मानुष्ठान मे जिस पवित्र भाव के आधार पर यहां की सभ्यता गठित हुई थी, वह था—इसका क्रमशः विस्तृत, व्यापक आत्मबोध अर्थात् सब को अपना आत्मीय समझना। 'लोका समस्ताः सुखिनो भवन्तु'—सभी सुखी हों, यही भावना भारतीय सभ्यता का आधार थी।

प्रत्येक देश में परिवार का बन्धन हमेशा से रहा है। किन्तु प्राय' सभी देशों मे लोगों की हमेशा ऐसी ही चेष्टा रही है कि एक परिवार में ज्यादा लोग न हों। लडका वडा होने पर अपनी स्त्री को लेकर अलग हो जाता है। किन्तु इस देश मे पुत्र-पौत्रों के साथ मिल कर एक संयुक्त व सम्मिलित परिवार मे एक साथ रहने मे ही लोग सन्तोप अनुभव करते थे। ऐसे सामूहिक परिवार को कायम रखने मे ही उन्हें आनन्द आता था। तीन तीन पीढियों तक सभी एक साथ एक परिवार मे रह कर अपने उपार्जन को आपस मे बराबर बराबर बांट कर बडे सुख से लोग जिन्दगी बसर किया करते थे। यह समभाव कैसे कायम रहता था?

परिवार मे कोई ज्यादा उपार्जन करता है और कोई कम, और कोई तो कुछ भी उपार्जन नहीं कर सकता, किन्तु तो भी परिवार का हरएक आदमी एक समान सुखी रहता है। इसका कारण क्या है? इसका कारण सिर्फ महान् त्याग भाव व व्यापक कौटुम्बिक या पारिवारिक सहानुभूति ही है। इसी के माने है—पारिवारिक जीवन मे अहिंसा का प्रयोग। हम देख रहे हैं कि आजकल संयुक्त परिवार की संख्या घटती चली जा रही है। और जहाँ है भी, वहाँ परिवार मे जो सुख-शान्ति होनी चाहिये, वह कहाँ? आज की हालत पर विचार करते ही मन मे यह प्रश्न उठता है कि हमारी ऐसी दशा क्यों हुई? आज से ५०—६० वर्ष पहले भी सम्मिलित परिवार मे जितने लोग रहते थे और उनके बीच जितनी सुख-शान्ति रहती थी, वह आज क्यों नहीं है? इसका कारण है कौटुम्बिक व पारिवारिक जीवन मे सहनशीलता व सहानुभूति का अभाव या दूसरे शब्दों में व्यावहारिक अहिंसा की कमी।

सम्मिलित परिवार को थोडा और विस्तृत करते ही ग्राम-संगठन की वात आप से आप आजाती है। संयुक्त परिवार का एक एक छोटा परिवार उस वड़े परिवार के दुःख के वोझ को आपस मे समान भाव से वांटने के लिये प्रस्तुत रहता था और एक साथ मिल कर रहने मे जो सन्तोष व

आनन्द है, उसका उपभोग करते हुए जीवन-यापन करने का निश्चय करता था। इस तरह वे प्रेम व आत्मीयता के बन्धन में बँधे रहते थे। उसी तरह प्रत्येक संयुक्त परिवार अपने पड़ोसी परिवारों के साथ स्वाभाविक प्रेमपाश में बँधा रहता था। सब परस्पर प्रेम या अहिंसा के कोमल व सुन्दर बन्धन में बंधे रहते थे। इस तरह ग्राम्य-जीवन में व्यावहारिक अहिंसा का स्वाभाविक प्रयोग आप से आप चलता था। यही उस समय के ग्राम्य-जीवन की कल्पना थी। उस समय का ग्राम एक बड़ा परिवार ही होता था। ग्राम की सारी जरूरतें जैसे अन्न, वस्त्र और दूसरी दूसरी चीजों की आवश्यकताएँ सभी ग्राम के अंदर ही पूरी हो जाती थीं या ज्यादे से ज्यादा आसपास के ग्रामों की मदद से पूरी हो जाती थीं। ग्राम की सामाजिक व्यवस्था ग्राम के ही हाथों में रहती थी। स्वास्थ्य, शिल्प, वाहन, सवारी, पूजा, पुरोहित, पठन, पाठन, सब का इन्तजाम ग्राम के अधीन था। ग्राम की पंचायत ग्राम का शासन व सेवा करती थी। स्टेट के अन्दर ग्राम एक छोटा सा स्वावलम्बी स्टेट ही होता था। ग्रामवासी मिल कर ग्राम का शासन करते थे और देश का शासन राजा करते थे। राजा के परिवर्तन होने पर भी ग्राम-स्टेट में कोई परिवर्तन नहीं होता था। एक राजा दूसरे राजा पर विजय प्राप्त करते थे, उनके माल खजाने पर कब्जा कर लेते थे किन्तु

ग्राम-स्टेट बिलकुल स्वतंत्र रहता था। राजा की विजय या पराजय उसे स्पर्श नहीं कर पाती थी। अहिंसा वहाँ इस कदर स्वभाव-सिद्ध थी की ग्राम की सुख-शान्ति मे कोई भी विघ्न पैदा नहीं होने पाता था। राजा कर लेते थे किन्तु अपने लिये नहीं। वे विप्लव, डकैती, व बाहरी दुश्मनों से प्रजा की रक्षा करते थे। ग्राम के न्याय का निरूपण ग्राम-वासियों के जरिए ही होता था। उस न्याय के फैसले मे दंड नहीं होता था, सिर्फ मुजरिम के दिल का परिवर्त्तन किया जाता था। मनुस्मृति में दो प्रकार के दंड का जिक्र है—(१) प्रायश्चित्त दंड (२) शारीरिक दंड। किन्तु प्रायश्चित्त के द्वारा जहाँ अपराधी का संशोधन नहीं हो सकता था, वहीं उसे राजा के न्यायालय मे जाना पडता था और उस विचा-रालय के फैसले के मुताबिक दंड भी कठोर होता था। अतएव यह मान लिया जा सकता है कि ग्राम के अपराधी का विचार ज्यादातर ग्रामवासी के द्वारा ही सम्पन्न होता था।

श्रमजीवी लोग बडे सुख-चैन से जरूरत की चीजें पैदा कर के या भिन्न भिन्न हुनर व शिल्प के जरिए समाज की सेवा करते थे और इसी से उन्हे जीविका मिलती थी। उन्हें जीविका की कोई चिन्ता न रहती थी। वे बडे सन्तोष से जीवन-यापन करते थे। शिक्षक का काम लिखाना-पढ़ाना था और बदले में उसे जीवन-यात्रा की सारी जरूरतें आप से

आप प्राप्त हो जाती थीं। इस सहज जीवन-यात्रा में प्रतियोगिता या प्रतिद्वन्द्विता का ख्याल बिलकुल नहीं रहता था, सब कामो, सभी हुनरो, सारे वाणिज्य-व्यवसाय और उद्योगों के अन्दर परस्पर मेल व रक्षा का भाव ओतप्रोत था। अहिंसा व प्रेम समाज के रग रग में फैले हुए थे।

ऐसे अनुपम सम्मिलन में भारतवासी को स्वतंत्र विचार व स्वाधीन कार्य्य करने का अवकाश मिलता था। स्टेट जैसी कोई वाह्य शक्ति लोगों के जीवन पर कोई विस्तृत प्रभाव नहीं डाल सकती थी। ग्राम-स्वावलम्बन व व्यक्ति-स्वावलम्बन ये ही सभ्यता के प्राण हैं। इस सभ्यता के अन्दर शिल्प व वाणिज्य-जीवन में लेश मात्र भी प्रतियोगिता नहीं रहती। यही है अहिंसा भाव की स्वाभाविक साधना। इसी से अहिंसा की पुष्टि होती है। शिल्पी या कारीगर आपस में एक दूसरे का नुकसान या नाश नहीं करते. वरंच शिल्प-संघ द्वारा एक दूसरे की रक्षा करते हैं। पहले इसी प्रेममय भाव के द्वारा लोगों के जीवन व कर्म नियंत्रित होते थे।

इस से साफ जाहिर है कि ऐसा पार्श्ववर्त्ती वातावरण, ऐसे सुख-शान्तिमय सम्मिलित परिवार, ऐसे दृढ़ स्वावलम्वी ग्राम व स्टेट और इस तरह के संघबद्ध शिल्पी व कारीगरों के द्वारा नियंत्रित सामाजिक जीवन—ये सब केवल मौलिक व

स्वाभाविक अहिंसा भाव के प्रसाद व प्रभाव से ही पैदा होते हैं। विच्छिन्न होने पर प्रतिद्वन्द्वी कभी बच नहीं सकते। परस्पर विरोध मे कभी उन्नति हो नहीं सकती। एकता, स्वनियंत्रण और संघ-वुद्धि से अहिंसा की रक्षा व पुष्टि होती है। ऐसा समाज क्रमशः अधिकाधिक अहिंसा की ओर अग्रसर होता है।

इसी तरह के संगठित समाज मे वुद्ध, महावीर इत्यादि युगावतारों के जीवन व कर्म ने साधारण जनता के जीवन मे अहिंसा के रास्ते पर नवीन प्रकाश का विस्तार किया था। उस समय वौद्ध भिक्षुगण और जैनाचार्य्य गण ने समाज को अहिंसा की वुनियाद पर कायम रखने में बहुत बडी मदद पहुचायी थी। वह एक जमाना था, जब इस तरह का संगठित समाज धर्मावलम्वी हो कर बडी शान्ति व चैन से जीवन-यापन कर रहा था। इस शिक्षा की बदौलत भारतवर्ष ने कभी दूसरे देश पर आक्रमण नहीं किया। वह धर्म के द्वारा विश्व-विजय करने को महाराज अशोक के समय मे निकला था। किन्तु तोप, कमान, हाथी-घोडे व पैदल आदि चतुरंग सेना ले कर कभी किसी देश पर आक्रमण नहीं किया। यहाँ से संन्यासी, भिक्षु व ज्ञानी आचार्यगण सिर्फ भारत की शिक्षा, संस्कृति व मुक्ति का सन्देश ले कर बाहर गये थे।

किन्तु वह दिन बराबर कायम नहीं रहा। वह भी एक

समय आया, जब कि पतन आरम्भ हो गया। बाहरी संघर्ष से भारत की कोई विशेष क्षति नहीं हुई। बाहरी संघ यहाँ आये। आक्रमण किया। लूट मचाई। यहाँ राज करने लगे। किन्तु आखिर मे भारतीय शिक्षा व साधना के सामने उन्हें हार माननी पडी और स्वयं भारतीय बन जाना पड़ा। किन्तु इस तरह के बाहरी विप्लव ने ग्राम की प्राण-शक्ति पर जो चोट पहुचायी थी, वह भी देखने मे आती है। त्याग व स्वावलम्बन-शक्ति मे जो श्रद्धा बराबर से ग्राम के अन्दर कायम थी, वह क्षीण होने लगी।

अंग्रेजों के भारत मे प्रवेश करने के समय हमारी अवनति शुरू हो चुकी थी। ग्राम अपने को पहले की नाई स्वावलम्बी व आत्मनिष्ठ रखने मे असमर्थ हो रहे थे। अंग्रेजों के यहाँ प्रवेश करने के समय भारतीय अहिंसा की महान् परिकल्पना-शक्ति क्षीण हो रही थी। अंग्रेजो को लोग देवता मानने लगे। और पड़ोसियों के प्रति सहानुभूति के अभाव मे संतोष की जगह असंतोष, धर्म की जगह अधर्म, संघबद्ध व्यापार-वाणिज्य की जगह परस्पर प्रतियोगिता दिखाई देने लगी। समाज के लोग ही समाज के दुश्मन बन बैठे और विदेशी व्यापारियों की लूट मे मदद करने लगे। इसी समय से भारतीय समाज के अन्दर अहिंसा का प्रभाव क्रमशः अधिकाधिक क्षीण होता आ रहा है।

किसी भी कारण से हो, हम देख रहे हैं कि आज हम हिन्दू, बौद्ध, जैन सभी समान रूप से सम्बलहीन हो बैठे हैं। धर्म-भाव अब फिर समाज को नियन्त्रित नहीं कर पाता। धर्म की जगह आज सिर्फ अर्थ का सम्मान हो रहा है और अहिंसा का प्राण-प्रवाह मद व क्षीण हो गया है। ऐसी ही हालत मे अहिसा के पुनरुत्थान का प्रश्न उठ सकता है और उठना स्वाभाविक भी है। अहिंसा की विश्वविजयी वार्त्ता, राजनीतिक क्षेत्र मे उसके प्रयोग व सफलता की बात आज गाधीजी अपने जीवन व आचरण के जरिये हमे समझा रहे है। वे आज कह रहे हैं कि जीवन को अहिंसामय बनाओ, तो सारी विपदायें आप से आप दूर हो जायेंगी। इससे न केवल विदेशी शोषणकारी शासन व पराधीनता से हमारा उद्धार होगा बल्कि देश-रक्षा के लिये युद्ध की संहार-लीला की भी कोई जरुरत न रहेगी। यह पहले जमाने से भी आगे बढ़ जाने की बात है। हमें फिर से अहिसा का नवीन मंत्र मिला है। बुद्ध, महावीर, चैतन्य, रामकृष्ण व विवेकानन्द ने जिस समाज की सेवा की थी, उसके अन्दर फिर से नवीन जागरण दिखाई दे रहा है। सिर्फ सामाजिक क्षेत्र में नहीं, राजनीतिक क्षेत्र मे भी अहिंसा के प्रयोग के द्वारा देश को स्वाधीन बनाने और प्राप्त स्वाधीनता की रक्षा करने की दीक्षा गाधीजी हमें दे चुके है। अब हमारा कर्त्तव्य है कि

हम उसे कार्य मे परिणत करें। उसे कार्य में परिणत करने का निश्चित रास्ता भी उन्होंने हमें दिखला दिया है। वे हमें पारिवारिक, सामाजिक व सामूहिक क्षेत्र में अहिंसा वरतने को कह रहे है। वे कह रहे है कि चर्खा चला कर ग़रीब समाज के लिये अपने अन्दर आत्मीयता व आत्मबोध जगाओ। खादी व ग्रामोद्योग की बनी हुई चीजों का इस्तेमाल कर शोषित समाज के साथ सहानुभूति अनुभव करो। जितनी चीजें हम इस्तेमाल करते हैं, उनमे सर्व प्रथम हमें यह विचार करना चाहिये कि ये हाथ की बनी हैं या मशीन की। यदि हमे बचना है तो मशीन वाली यान्त्रिक सभ्यता से अपनी, अपने परिवार व समाज तथा देश की रक्षा करना निहायत जरूरी है। यान्त्रिक सभ्यता दूसरों का शोषण करती है। वह दूसरों को बिना हानि पहुंचाये, और उनका अहार बिना छीने टिक नहीं सकती। वह हिंसा पर ही कायम रह सकती है। अहिसा व्यापक रूप से तभी प्रतिष्ठित हो सकती है जब हम ग्रामो को सुप्रतिष्ठित करें अर्थात् केवल वहीं की बनी हुई चीज इस्तेमाल करें। इसके बिना अहिंसा का व्यावहारिक व वास्तविक पालन होना असंभव है। यान्त्रिक सभ्यता का ताडव नृत्य आज हमारे सामने हो रहा है। यान्त्रिक सभ्यता के पुरोहितों और आचार्यों के बीच यह संहार-लीला चल रही है। इसी संहार की तैयारी के लिये

जर्मनी सन् १९३२ से सन् १९३७ ई० तक रोज ३॥ साढ़े तीन करोड़ रुपये युद्ध-सरंजाम की तैयारी मे खर्च करता रहा जिसका लिखित प्रमाण हमारे सामने मौजूद है। सन् १९३७ ई० के बाद से प्रमाण की कोई जरूरत नहीं। वह स्वतः सिद्ध है और उसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इसी तरह इंगलैण्ड आज दैनिक १० करोड रुपया इस संहार के दावानल में आहुति देकर युद्ध कर रहा है। यह पैशाचिक हिंसापूर्ण यांत्रिक सभ्यता की परिणति है। इसी को हमारे यहाँ मत्स्य नीति कहते हैं वड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को निगल जाती है; वड़े हिंस्र पशु छोटे पशुओं को मार कर खा जाते हैं। यह नीति मनुष्य के लिये नहीं है। हमे इस नीति से और हिंसा के ऊपर कायम इस आसुरिक यात्रिक सभ्यता से वचना है। तभी हमारे परिवार, समाज व देश की रक्षा होगी। आप गाधीजी की बात सुनें, उनका सदेश वरावर 'हरिजन', 'हरिजन सेवक', 'हरिजन वन्धु' व 'सर्वोदय' में निकला करता है। उसे आप ध्यान से पढ़ें और पढ़ कर आचरण में लायें। यदि हम गाधीजी के उपदेश के अनुसार इस अहिंसा-पथ पर चलने की चेष्टा करें तो इससे न केवल इस संजीवनी अहिंसा का पुनरुद्धार होगा वल्कि हम और भी अग्रसर हो कर स्वयं नूतन जीवन का अनुभव करते हुए सारे विश्व को उसका अमृत-रस पान कर सकेंगे। जगद्गुरु भारत-वर्ष फिर से अपना स्वाभाविक स्थान ग्रहण करेगा। और सारे संसार को अहिंसा का मंत्र देकर उसे संहार होने से वचा लेगा।

सीमित स्वधर्म और असीम आदर्श

[वक्ता—श्री जैनेन्द्रकुमार दिल्ली]

आज मैं कुछ बे-स्वाद बात आपको कहना चाहता हूँ। स्वाद भोग मे होता है। धर्म मे त्याग होता है। धर्म की बात गर्म नहीं होनी चाहिए। गर्मागर्मी अच्छी लगा करती है। कहा है "धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम्"। वह गुफा है हृदय। हृदय की उलटी रीति है। ठंडी-धीमी बात वहाँ पहुच जाती है। गर्म-तेज बात रास्ते मे इन्द्रिय-विषयों को चहका कर उस चक्कर मे रह जाती है। उत्तेजना उससे होती है कि फिर थकान-सी भी होती है। भोग के स्वाद

में यही तो है—आगे रस, पीछे विष। पर धर्म यदि रूखा है तो फल उसका ही मीठा होता है। आज पर्युषण के दिन जोर की वाणी और प्रखर तर्क से आपकी चित्त-वृत्ति को मैं मथ डालना नहीं चाहता। वह मेरा वश भी नहीं है। देखते ही हैं आप कि मैं कैसा निर्बल हूँ। कोई आग सी लहक आप मे झुलस उठे, ऐसा काम मैं नहीं करूँगा। आग चाहिए, पर ठंडी आग चाहिए। आध्यात्मिक सुलग वही है। भीतर सच्ची जिज्ञासा जगी कि फिर बुझती नहीं। पर उसमे दूसरा कोई नहीं जलता है, हमारे विकार ही जलते हैं। अभी उस दिन दाद की बीमारी के बारे में पढ़ रहा था। दाद को जितना खुजाओ, उतना मजा आता है। असल मे उसके छोटे छोटे कीड़े बदन पर फैले होते हैं। खूब खुजा कर अपना लहू हम उन्हें पिलाते हैं। उस मजे का मतलब उन कीडो का मजा है। अपना खून उन्हें पिलाते और रस मानते हैं। आपस के विवाद और वितण्डा से जो मजा अक्सर आया करता है, वह भी इसी किस्म का है। उसमे हम अपना खून पीते और मजा मानते हैं

आज के परचे मे आपने देखा कि मेरा विषय है 'सीमित स्वधर्म और असीम आदर्श'। विषय वह क्लिष्ट मालूम होता है। उसका दोषी मैं हूँ। मैंने ही वह विषय दिया। पर सुनने मे वह क्लिष्ट हो, आप देखेंगे कि हमारे और

आपके वह नित्य-प्रति के काम का है। दूर की पहुंच मेरी नहीं है। मेरा दुर्भाग्य कि मैं विद्वान नहीं हूँ। पर आज तो मैं उसे सद्भाग्य मानता हूँ। गीता की अहिंसा में और महावीर की अहिंसा मे और बुद्ध की अहिंसा मे और गाधी की अहिंसा मे क्या तारतम्य और क्या उनमें सूक्ष्म भेद है? यह विषय अपनी अ-विद्वत्ता के कारण मेरी पात्रता से बाहर है, यह मेरा सौभाग्य नहीं तो क्या है? नहीं तो इस सूक्ष्म चर्चा मे गिर कर मुझे क्या कभी उसका किनारा मिलता? इससे मैं कृतज्ञ हूँ कि जितनी बुद्धि मुझे मिली है उससे आगे बढ़ने की तबियत होने का सामान मुझे नहीं मिला है। अपने से दूर जा कर मैं कुछ नहीं पकड़ पाता। जिसकी प्रतिध्वनि मेरे भीतर नहीं है, ऐसा कुछ तत्व हो तो उसकी उधेड़-बुन मे मैं किस आधार पर पड़ जाऊँ?

विषय के दो हिस्से हैं। पहला है, सीमित स्वधर्म अर्थात् हमारा स्वधर्म सीमित है। उस सीमा को हमें समझना और स्वीकार करना चाहिए और उससे झगडना नहीं चाहिए।

अपने सीमित होने की बात पर ज्यादा समय क्या लिया जाय। हम मे से हरएक अपने साढे-तीन हाथ का है। उससे आगे उसकी हस्ती नहीं। हर काम और हर बात मे अपने सीमित होने का हमें पता चलता रहता है। देह साढ़े-तीन

हाथ और उम्र समझ लीजिये साठ-सौ साल। इस तरह क्षेत्र और काल की मर्यादा के भीतर हमारा अस्तित्व है। इन मर्यादाओं के भीतर ही हम पर कुछ कर्त्तव्य लागू होते हैं। वे कर्त्तव्य ही हमारा स्वधर्म हैं।

यह बात साफ़ है। पर धुँधली भी हो जाती है। कारण कि हमारे भीतर मन है और बुद्धि है और इच्छाएँ हैं। मन भाग कर दुनियाँ मे दौडता है, बुद्धि आसमान को नापती है और इच्छाएँ जाने क्या क्या अपनी मुट्ठी में कर लेना चाहती हैं। अपने ही अन्दर के इन तत्वों के कारण हम अपनी ससीमता को चुपचाप नहीं झेल पाते। हमारी जो हद है, उन पर पहुंच कर हमारे मन-बुद्धि सदा ही टकराया करते हैं और उन सीमाओं की अवज्ञा करके स्वच्छन्द विचरना चाहते हैं।

जैसे सपने की ही बात लीजिए। आप रोग मे खटिया से लगे पडे हैं। पर सपने मे ऐसे उड़ते हैं, ऐसे उडते हैं, जैसे आपके लिए कोई रोक ही नहीं। बादल पर चढ़ जाते हैं, सारी दुनिया को अपने मन के अनुरूप शकल दे सकते हैं। दिन के काम मे आप बन्धे हुए है। पर रात के सपने मे एकदम खुल जाते हैं।

मैं उन आदमियों मे नहीं हू जो सपने को सपना कह कर उड़ा दे सकते हैं। मैं तो वहम को भी मानता हूं। इसी

तरह सपना दिन की धूप में सपना हो, पर रात में आँख मिचने पर वही सच होता है। हमारे सपने पर हमारी ही सीमा नहीं रहती है। और मैं यह भी आपको कहना चाहता हू कि सपना न होता तो हम जग भी न सकते। अनिद्रा नाम का जो रोग है, वह नहीं तो रोग ही फिर क्यों होता ? दो रोज न सोइये, फिर देखिये क्या हालत होती है। सपने के कारण हममे सन्तुलन आता और जीना सम्भव होता है।

पर एक बार की बात है कि रात को मेरी बहन एकाएक चीख पडी। ऐसी कातर चीख थी कि क्या बताऊँ। पर देखा तो वह सो रही थी। थोड़ी देर मे फिर चीख हुई। अब के वह उठ पडी थी। माथे पर पसीना था, थरथर कांप रही थी। मैंने पूछा, "क्या है ?" बोली, "कुछ नहीं।" यह 'कुछ नहीं' उसने झूठ नहीं कहा था, पर उसे सचमुच मालूम नहीं था कि क्या है। और वह यही जानती थी कि जो है, वह 'कुछ नहीं' है। इसलिए यह जो 'कुछ नहीं' नाम की वस्तु है, जिस का दूसरा नाम है स्वप्न, वह एकदम असत्य नहीं है। उसमें से चीख निकल सकी, उससे बदन पर पसीना और थरथराहट आ सकी।

यह बात मैंने आप को यह बताने के लिए कही कि हमारी सीमा और हमारे ही अन्दर के असीम में जब बेहद झगड़ा

पैदा हो जाता है, यानी तीव्र संघर्ष मच जाता है, तब उसका अनिष्ट परिणाम होता है। हम सीमित हैं, हमारा आदर्श असीम है। उन दोनों सीम और असीम के तनाव (Tension) मे से जीवन का प्रादुर्भाव हुआ है। वही हम सचेतन प्राणियों की परिभाषा है। ससीम से असीम की ओर गति उस जीवन का विकास है। और उन मे विग्रह हमारा क्लेश और हमारी तकलीफ है।

यहाँ पर एक बात बहुत अच्छी तरह समझ लेने की है। वह यह कि अपनी सीमाओं से नाराज होकर उन्हे हठात् इन्कार करके हम उन्हें अपनी जकड़ बनाते है। और अगर हम उन सीमाओं को आगे बढाना चाहते हैं, यानी अपना विकास करना चाहते हैं, तो वह पुरुषार्थ एक बार उन सीमाओं के स्वीकार के आधार पर होगा, इन्कार की स्पर्द्धा मे नहीं।

इसको साफ करने की जरूरत है। उदाहरण के लिए, एक बालक को लीजिए। वह सत्रह-अठारह वर्ष का हो गया है। पढ़ने मे बहुत तेज है—एफ० ए० पास कर गया है। खूब ऊँचा साहित्य उसने बाँचा है। नतीजा यह कि उसके ख़याल बहुत उठ गये है। उसका घर गाँव मे है, पर वह यह मानता है कि विश्व को अपना घर समझना चाहिए। उसके माता-पिता वैष्णव या जैन या मुसलमान है। लेकिन पढ़-

पढ़ कर उसने जाना है कि सच्चा धर्म तो स्वतंत्र है और मेरे माता-पिता संकीर्णता मे पड़े हुए हैं।

अब कल्पना मे लाइये कि इस बालक का अपनी परिस्थिति के साथ कैसे मेल बैठेगा ? क्या वह जो बालक सोचता है, ग़लत है ? ग़लत तो नहीं है, पर अगर उसके सही होने के जोश में घर में पाव रखते ही वह बालक मा-बाप के उद्धार की चेष्टा करने लगता है, कहता है कि तुम वहम मे पड़े हो और जब तक तुम अपनी संकीर्णता छोड़ते नहीं हो, मैं इस घर मे खाना खाने को भी तैयार नहीं हूँ। अगर वह ऐसा आचरण करता है तो आप क्या कहेंगे ? उसे विद्वान् कहेंगे या मूर्ख कहेंगे ? विद्वत्ता तो उसकी सच्ची है, पर अपने स्वधर्म की मर्यादा जो वह भूल बैठा है, इससे वह सारी विद्वत्ता ही उसकी मूर्खता हो जाती है।

बालक का उदाहरण हमारी और आपकी स्थितियों पर भी एक-न-एक प्रकार से लागू है। मान लीजिए, मैं जैन कुल में उत्पन्न हूँ। पर जैनेतर को अपना भाई मानना चाहता हूँ। जैन-सम्प्रदाय की सीमा के बाहर असत्य ही असत्य है, यह नहीं मानना चाहता। ऐसा जैनत्व जो जैन से बाहर प्रेम के नाते को ग़लत ठहराये; मेरी आत्मा नहीं स्वीकार करती। मैं यह नहीं मानना चाहता कि असहानुभूति या

अपमान या अनादर किसी का भी भला हो सकता है। तब मैं क्या करूँ ? क्या ऊँची गर्दन कर के यह कहूँ कि मैं जैन नहीं हूँ, मानव-धर्मी हूँ, और तुम जैन धर्मी हो तो भूल मे हो ? मैं मानता हूँ कि मेरा ऐसा आचरण अहंकार का आचरण होगा। जैन धर्म अथवा कि कोई धर्म क्या अमानव होने को कहता है ? अगर नहीं, तो जैन धर्मावलम्बी, अथवा कि कोई धर्मावलम्बी हो कर व्यक्ति के सच्चा मनुष्य बनने में क्या बाधा है ? इसलिए जिसको परम्परा से जैन धर्म प्राप्त हो गया है, वह सच्चा जैन बनने के द्वारा ही साधारणतया सच्चा आदमी बन सकता है। सच्चा आदमी बनने के लिए उसे अपने जन्म अथवा जीवन की स्थिति को इन्कार करना पड़ेगा जिसकी मुझ को कोई जरूरत नहीं मालूम पडती।

छुटपन मे कहानी पढी थी कि चन्दा देख कर रामजी मचल गये। रोवें सो रोवे। मान कर ही न रहें। यह तो खैर थी कि इतने छोटे थे कि चन्दा देख कर हाथ लपकाते थे, उनके पैर अपनी जगह छोड कर बहुत उछल नहीं सकते थे। अपनी जमीन छोड कर चंदा राजा की तरफ उलांच भरने जितनी कहीं बदन मे शक्ति होती और मा पास न होतीं, तो रामजी गिरगिरा कर अपना सिर ही फोड लेते। पर ग़नीमत कि उनमे इतनी ताकत न थी और मा पास थीं। आखिर मा ने क्या किया कि थाली मे पानी भर कर उस चन्दा राजा

को आसमान से नीचे थाली के बीच मे उतार लिया। रामजी उससे मगन हो गए, खेले, और सो गये।

' हम सब पर माताएँ तो रह नहीं गयी है। मेरी मा तो मुझे छोड ही गयी हैं। उनके अभाव में, यह समझ कर कि हम बड़े है, क्या चाँद पर हमें मचलना चाहिए? और इस बचपन के खेल के लिए क्या औरों को भी उकसाना चाहिए? आसमान के चाँद को या तो धीर-भाव से देखने की हम मे शक्ति हो या अपने भीतर अक्स मे ले कर उसे हम बिठा सकें। और इस तरह जिस धरती पर हम खड़े हैं उस पर से अपने पैर उखड़ने न दें। यही तो एक रास्ता है। नहीं तो अधर मे उड़ कर चाँद तो हम पायेंगे नहीं, जहाँ है वहाँ से भी गिर रहेंगे।

यह सब बात कहना और बच्चों के उदाहरण देना अप्रासंगिक न माना जाय। कदम-कदम पर स्थिति-भंग का खतरा हमारे लिए है। मैं छोटा बच्चा होऊं, पर इस दुनियाँ मे कुछ हैं जो अक्षर पढ़ कर साक्षर बने हैं। उन में उत्साह है, कल्पना है। वे लम्बी दौड़ दौड़ते और ऊँची फाँद लगाते हैं। वे यह तक क्यों मानें कि वे बच्चे है? उन्हें अपने खेल मे आनन्द है। गिरते हैं, तो उन्हें हक है कि उस में से वे सबक न लें बल्कि खेल का और मजा लें। वे उस आनन्द की अतिशयता को झेल नहीं सकते, इससे

हम–तुम को भी वह आनन्द देना चाहते हैं। अब हम क्या करें? हमारे पास माँ है, या कोई हमें माँ-तुल्य है, या कोई बापू है, तब तो ठीक है। धर्म-संकट मे हम वहीं पहुँच जायगे। पर यदि हम कुछ बड़े हो गये है और माँ हम से छिन गयी है, और किन्हीं को बापू बना लेने जितनी विनय या सुविधा हमे नहीं है, तो स्वधर्म को हम अपने पकड लें और उस की गोद को न छोडें।

हमारे लिए स्वधर्म हमारी मर्यादा है। मानों समूचा धर्म हमारे लिए वह है। हमारी स्थिति की सीमाएँ हैं। हम बालक है या युवा हैं, या अपने परिवार में बड़े है या नगर-मान्य है, या समाज रक्षण की कुछ जिम्मेदारियाँ हम पर हैं, अथवा राष्ट्रनेता है या कि लोकनायक हैं—इन सब हालतो मे हमारा स्वधर्म सीमित है। अलग अलग हालत मे सीमाएँ भी अलग है। बालक पर लोकनायक का कर्त्तव्य नहीं आता है। पर उन-उन स्थितियों मे उन्हीं सीमित स्वधर्मों के पालन मे हमारा मोक्ष है। जो व्यक्तिगत कर्त्तव्य का पालन नहीं करता है, वह पारिवारिक जिम्मेदारी निबाहने के योग्य नहीं बनता। और जो छोटे क्षेत्र के कर्त्तव्य का समुचित पालन कर दिखाता है, उसी पर बडे क्षेत्र के दायित्व का भार आता है। विकास और मुक्ति का यही रास्ता है। व्यक्तिगत कर्त्तव्य की उपेक्षा करके सार्व-

जनिक, सामाजिक या राष्ट्रीय नेतृत्व अथवा बड़प्पन अपनाने की कोशिश निष्फल और अनुचित है। इससे धर्म-संकटता उपस्थित होती है। निजी जीवन और सार्वजनिक जीवन दोनो उससे क्षुब्ध होते है।

स्वधर्म शब्द में ही यह आता है कि वह सब के लिए भिन्न है। अर्थात दूसरे का स्वधर्म मेरे लिए परधर्म है।

अब प्रश्न है कि परधर्म के प्रति मेरा क्या व्यवहार हो? "स्वधर्मे निधनम् श्रेय', परधर्मो भयावह." । अर्थात्, स्वधर्म न छोड़ना और परधर्म न ओढ़ना। परधर्म पर का धर्म है, मेरा वह नहीं है। पर परधर्म मान कर भी मुझे उसके प्रति कैसे व्यवहार करना चाहिए—यह प्रश्न बना ही रहता है!

इस प्रश्न के हल के लिए हमारे विषय का दूसरा अंश काम देगा। वह यह कि आदर्श असीम है। सत्य मेरी मुट्ठी मे नहीं है। उस पर मेरा स्वत्वाधिकार नहीं है। आदर्श मे खंड नहीं हो सकते। इससे आदर्श सत्य है। सत्य मे हम-तुम सब समाये है। सब धर्म उसमें अभिन्न है। सब जीव उस मे एक है। असल मे तो सभी तरह का द्वैत उस मे अद्वैत है। वह अखण्ड है, अविभाज्य है। उसी को कहो परमात्मा, या ब्रह्म, या कुछ-भी। हम अपनी पृथकता मे जीवात्मा हैं, अपनी एकता मे परमात्मा।

उस एक की झाँकियाँ अनेक हैं। जो जहाँ है वहाँ से वह अपने ही रूप मे उसे देखता है। उन मे कोई एक झाँकी गलत नहीं है। वे एक दूसरे की पूरक है। वे एक दूसरे से भिन्न है, पर अपनी अपनी जगह एक सी ही सही हैं। कोई अपनी झाँकी का चित्र उजला दे, दूसरा धुधला। वह तो चित्र-दाताओं पर है। कोई उसे अपने जीवन मे एक रूप मे प्रतिफलित करे, दूसरा दूसरे ही रूप मे घटित करे—यह तो उनकी परिस्थिति और क्षमता पर अवलम्बित है। पर दोनो स्थानो पर जितनी ऐक्यानुभव और ऐक्य-प्रभाव की तीव्रता है उतनी ही सत्यता है। रूप और आकार पर कुछ मौकूफ नहीं है, असलियत तो आत्मा है।

इस ऊपर के सूत्र से परिणाम निकला कि स्वधर्म मेरे लिए सब कुछ हो, पर उसी भाँति परधर्म पर के लिए सब कुछ है। अर्थात् मुझे जितना स्वधर्म प्यारा होना चाहिए, मेरी कोशिश होनी चाहिए कि दूसरे का स्वधर्म उसे उतना ही प्यारा बने। स्वधर्म का आरोपण नहीं किया जा सकता। स्वधर्म का आरोपण एक तरह से परधर्म का स्वीकार ही है। किन्तु स्वधर्म मे निधन अच्छा, परधर्म का स्वीकार तो कदापि इष्ट नहीं। और जब हम अपना धर्म किसी से मनवाना चाहते हैं तो उसका मतलब होता है कि उस पर परधर्म लादना चाहते है। यह तो हिंसा है।

में इसी ढंग से हिंसा-अहिंसा को देखता हूँ। अपने स्वधर्म पर मैं मर सकता हूं। अपने भीतर अनुभूत सत्य पर आग्रही रह कर मुझे मौत आती हो, तो हर्ष से मुझे उसे भेंटना चाहिए। अब अहिंसा की पहिचान यह है कि दूसरे के स्वधर्म की रक्षा के निमित्त भी वैसा ही मैं त्याग कर सकूं। मुसलमान के इस्लाम के लिए, अर्थात् मुसलमान को हिन्दू बनाने नहीं बल्कि मुसलमान को सच्चा मुसलमान बने रहने देने में मदद देने के लिए, अपना सब कुछ होमने की लगन मुझ में जितनी हो उतनी ही अहिंसा माननी चाहिए।

व्यवहार के लिए इस पर से यह नियम निकलता है कि यदि मैं गो-भक्त हिन्दू हूं, पर एक मेरा भाई मुसलमान अपना धर्म मान कर गो-कशी करता है, तो या तो मैं प्रेम-भाव से उस भाई का हृदय जीतूँ या मुझ में सचमुच उतनी करुणा हो तो गाय की रक्षा के लिए अपनी गर्दन मुसलमान भाई को दे दूँ। पर, थोडी देर के लिए समझिए कि एक मेरे जैसा गो-भक्त हिन्दू गो-वध की बात पर उत्तेजित हो कर उस मुसलमान भाई को मारने चलता है। तो यह बिल्कुल उचित होगा कि मैं उस भूले गो-भक्त की राह में बाधा बन जाऊँ और अपने जीते-जी उस मुसलमान भाई की कुरबानी में बलात् विघ्न न पड़ने दूँ।

दूसरे के धर्म के लिए आदर-भाव सच्चा तभी उत्पन्न

होगा जब स्वधर्म पर आरूढ़ रहने की हम मे निष्ठा है। यह मेरी पक्की प्रतीति है। जिसमे स्वधर्म-निष्ठा नहीं है, दूसरे के स्वधर्म के प्रति त्याग की शक्ति भी उसमे नही होती है।

अर्थात् अपना धर्म छोड कर सब धर्मों को एक बनाने की कोशिश बेकार कोशिश है। धर्मों की एकता तो परसधर्म मे अब भी है ही। फिर जो उन मे स्थिति, काल और परम्परा की दृष्टि से वाहरी अनेकता दीखती है उसे मिटाने का आग्रह क्यो? मन का ऐक्य शरीर की पृथकता पर और भी सच्चा बनता है। जब प्रेम दो शरीरों को मिलाता है, तब वह मोह कहलाता है। भोग मे दो शरीर अपनी पृथकता सहन न कर सकने के कारण मिलते है। इसी से भोग का फल ऐक्य नहीं अनैक्य होता है। प्रेमी-प्रेमिका का विवाह हुआ कि थोडे दिनो वाद उन का प्रेम उड जाता है। मैंने तो सौ फी सदी यह बात देखी है। क्यो ऐसा होता है? इसका कारण यह कि प्रेम मन की एकता चाहता है, पर वे शरीर की एकता के प्यासे हुए। इसलिए वह प्रेम मोह बना, मोह से काम आया और फिर तो देखा गया कि उसकी पूँछ मे घृणा आ गयी है, प्रेम उड गया है।

आज मैं इस बात को बहुत जोर से कहना चाहता हू। क्योंकि लोग है जो धम-हीनता की जमीन पर सब धर्मों का मेल करना चाहते हैं। वे भले आदमी है। उनका अभि-

प्राय शुभ है। पर उनको समझना चाहिए कि जो ऊपरी अनेकता को खण्डित करना चाहती है, वह सच्ची एकता नहीं है। दो व्यक्ति अपना शरीर एक दूसरे से पवित्र रख कर ही सच्चे तौर पर परस्पर की आध्यात्मिक अभिन्नता पा सकते हैं। शरीर-स्पर्श का सुख जिस ऐक्यानुभव के लिए जरूरी है, उस मे अवश्य जडता और मोह का अंश है।

बहुत लोग हैं जो बहुत ऊँचे उठ गये हैं। यानी वे नाम-धारी सब सम्प्रदायो, जातियों, धर्मों और हदबंदियों से ऊँचे उठ गये हैं। वह विश्व की एकता मे रहते हैं। विश्व से कम किसी के साथ वह अपना नाता नहीं मानते। ऐसे लोग पूज्य हों, पर ऐसे लोग विश्व की सच्ची एकता को सम्पन्न नहीं कर सकते हैं। जो स्वयम् नहीं है, वह सब कुछ कैसे हो सकता है? शरीर से कोई विश्व मे कैसे रह लेगा? रहेगा तो एक कमरे मे ही। इसी तरह सब भाषाएँ कैसे बोल लेगा? बोलेगा तो एक समय एक भाषा ही। अर्थात् अपने प्रत्येक शरीर-व्यापार द्वारा व्यक्ति सीमित तो रहेगा ही। उस सीमा की स्वीकृति पर लज्जा क्या? बल्कि उस सीमा की स्वीकृति के साथ ही आत्मिक असीमता उपलब्ध करने का साधन हो सकता है।

स्वधर्म के सीमित और आदर्श के असीम होने के कारण हम को एक परमधर्म प्राप्त होता है: अहिंसा। मेरा अपना धर्म

सीमित है, यह मुझे क्षण के लिये भी न भूलना चाहिए। अर्थात् किसी दूसरे पर उसका बोझ, उसकी चोट या उसका आरोप मैं नहीं डाल सकता। यह अहिंसा का तकाजा है कि मैं ऐसा न करूं। दूसरे के लिए उसका स्वधर्म ही श्रेष्ठ है। उसको उसी में निष्ठित रखना मेरा कर्त्तव्य है। इसका यह आशय कि वाक्-शक्ति, प्रचार-शक्ति अथवा किन्हीं भी और साधनों से विशेषण-युक्त किसी धर्म का प्रचार करने का आग्रह नहीं रखना चाहिए। सच्चा धार्मिक ऐसे आग्रह से शून्य होगा। किसी की श्रद्धा विचलित करना उचित नहीं है। हम कैसे जानते हैं कि जो हम जानते हैं, वही ज्ञान की परिसीमा है? अगर परिसीमा नहीं है तो हम कैसे दूसरे की श्रद्धा पर आक्षेप कर सकते हैं या उसे अवहेलना से देख सकते हैं। अहिंसा का सार यही है।

साथ ही सत्य की जो झाँकी मुझे मिली है, मुझ अपूर्ण को तो वही पूर्ण सत्य जैसी है। इसलिए उस से न डिगने में मुझे जान पर भी खेल जाना चाहिए। यही सत्याग्रह है। पर ध्यान रहे कि इस (सत्य) आग्रह की सीधी चोट मुझ से बाहर कहीं न पड़े। अर्थात् यदि आग्रह सचमुच सत्य पर है तो वह अत्यन्त सविनय ही हो सकता है। विनय का जहाँ भंग हो, वहाँ आग्रह भी सत्य नहीं है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि सत्य में तो सभी समाया है—

मेरी झाँकी भी और सब की झाँकी भी, मेरा स्वधर्म भी और सब का स्वधर्म भी। फिर उस आदर्श-रूप सम्पूर्ण सत्य को ध्यान में लें तो आग्रह की कहाँ गुंजाइश रह जाती है ?

बेशक यह सच है। शुद्ध सत्य मे तो सब भेद लय है। हिंसा-अहिंसा का भेद वहाँ नहीं। ईश्वर अलिप्त है। कुछ उस को नहीं छूता।

पर हम तो अपूर्ण प्राणी है। इस से जब तक अपूर्णता है, तब तक अहिंसा ही हमारा धर्म है। क्योंकि जिस के प्रति हिंसा हो, उस में भी तो ईश (सत्य)-तत्व है। इस से हिंसा सत्य के प्रति द्रोह हो जाती है। और अहिंसा ही ईश्वर को अर्थात् सत्य को पाने का उपाय रहता है। हम अपूर्ण है, इसी से हमारा स्वधर्म सीमित है। और इसी से हर काल और हर स्थिति मे अहिंसा का परमधर्म हम पर लागू है।

मैं नहीं जानता कि अपनी बात आप के आगे मैं साफ रख सका हू। समय होता तो अपनी बात को और अच्छी तरह उदाहरणों के साथ खोल कर रखता। मैं मानता हूं कि अन्तिम आदर्श यानी परमात्म-स्थिति और हमारी आज.की व्यक्तिगत स्थिति, इन दोनों किनारों के बीच सतत् विकासशील धर्म की स्थिति को भी और गति को भी कैसे निवाहा जाय—यह बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न है। यही जीवन-कला है। और इसी का ज्ञान सम्यक् ज्ञान है। निरपेक्ष सत्य और सापेक्ष्य

वास्तविकता—इन दोनों तटों को छूता हुआ हमारा जीवन है। एक ओर ऐहिकता पर हमारे पैर हैं, दूसरी ओर अध्यात्म मे हमारी निष्ठा है। यों दोनों परस्पर विरोधी मालूम होते हों, किन्तु वह विरोध ही संयुक्त होता है हमारे जीवन में। संयुक्त होता है, नष्ट नहीं होता। उसके नाश का कोई कृत्रिम और बाहरी उपाय नहीं है। किसी तत्वशास्त्र या तर्कशास्त्र या कला अथवा विज्ञान से वह नहीं हो सकता। उपाय धर्म ही है जो पिंड को ब्रह्माण्ड से मिलाता है। ध्यान में रहे कि पिण्ड अब भी भीतर से ब्रह्म-स्वरूप ही है। पिण्ड यह पहचानेगा तो अपनी पिंडरूपता से उसका झगडा समाप्त हो जायगा। [illegible] होने पर साढ़े-तीन हाथ के शरीर में रह कर भी अन्त:प्रकृति मे व्यक्ति निखिल के साथ तत्सम होगा।

अन्त मे, जिस विषय को लेकर हम चले थे, अपनी यात्रा मे उसके बारे मे हमे क्या परिणाम हाथ लगे हैं—एक बार फिर इसे देख लेना चाहिये।

पहला—व्यक्ति रूप मे हम सीमित हैं। इस से स्वधर्म भी हमारा सीमित है।

दूसरा—वह स्वधर्म है, इसी से हम से दूसरे के लिए वह पर-धर्म है और उस पर वह लागू नहीं है।

तीसरा—स्वधर्म-पालन से ही स्वधर्म की मर्यादा आगे बढ़ती यानी व्यक्ति का विकास होता है।

चौथा—स्वधर्म के पालन मे मुझे मृत्यु से भी मुंह मोड़ने का हक़नहीं है। पर जो मेरे धर्म को अपना धर्म नहीं मानता, मेरा कर्त्तव्य है कि उसको उसके स्वधर्म में ही निष्ठित रखने मे सहकारी बनूं।

पाँचवाँ—यह अनुभव सिद्ध है कि जो जितना स्वधर्म-निष्ठ और उसके पालन मे अपने प्रति निर्मम होता है, वह दूसरे के प्रति उतना ही उदार, आदरशील और समभावी होता है।

छठा—समभावी होने का मतलब स्वधर्म-हीन होना नहीं। बल्कि दूसरे मे आत्मवत् वृत्ति रख कर उसके स्वधर्म को उतना ही अक्षुण्ण और पवित्र मानने और उसके लिए उतनी ही त्याग कर सकने की शक्ति होना है जितनी स्वयम् अपने स्वधर्म के लिए। यह काम किसी तर्क-कौशल या शाब्दिक समतोलता से नहीं हो सकता, अंत सिद्ध अहिंसा से ही सम्भव हो सकता है।

सातवा—आदर्श अखण्ड है। उस पर हमारी अपूर्णता की सीमा लागू नहीं है।

आठवां—जगत के नाम-रूपात्मक सब धर्म अमुक समुदाय अथवा जाति के स्वधर्म ही हैं। वे भी इस तरह सीमित हैं। वे निराकार आदर्श के साकार, अव्यक्त के अभिव्यक्त और निर्गुण के सगुण रूप हैं।

नवा—सब धर्म सच हैं। उन की सचाई मे तरतमता नहीं है। इसलिए उन में तुलनात्मक बुद्धि गलत है। धार्मिक की अन्तःशुद्धि की अपेक्षा उन मे सचाई पड़ती है।

दसवां- आदर्श के असीम और स्वधर्म के सीमित होने के कारण अहिंसा सब के लिए एक सम-सामान्य और परम धर्म है।

ग्यारहवां—असीम को पकड़ने की लालसा मे सीमाओं को लाँघना या तोड़ना गलत है। असीम की साधना सीमाओं के भीतर रह कर करनी है। शरीर की सीमा आत्मा की सोमा नहीं है। और शरीर मे रह कर आत्मा बहुत दूर, लगभग अनन्त दूर, तक उन्नति कर सकता है।

बारहवा—ऐक्य आत्मा मे है। शरीर के ऐक्य की प्यास लिप्सा कहलायेगी। आत्मैक्य साधने के लिये शरीर को पवित्र अर्थात असंपृक्त रखना चाहिये। यह अनुभव की बात है कि भोग से दो व्यक्तियों के बीच का अन्तर बढ़ता है और संयम से उन मे प्रेम दृढ़ होता है।

तेरहवा—आदर्श एक है, धर्म अनेक। अनेक द्वारा ही एक की उपलब्धि होगी। अनेकता से रुष्ट हो कर, क्षुब्ध हो कर ऊपरी जोड़-तोड़ से कुछ न होगा। सुधारकों के इस ढंग के नेकनीयता से किए गये प्रयत्न विशेष फल न ला सकेंगे। रूपाकार वस्तु निर्गुण अध्यात्म की आंच मे ही पहुंच कर

अनायास अपने रूप और आकार के बन्धन से मुक्त होगी। समझौता इस क्षेत्र का सत्य नहीं है।

चौदहवां—दूसरे के स्वधर्म के लिए अपने स्वधर्म का अल्पांश भी त्याग किये बिना अपना उत्तरोत्तर अधिक त्याग कर सकना सजीव अहिंसा का लक्षण है। अहिंसा धर्म स्थितिबद्ध नहीं, बल्कि गतिशील है। इसलिए अहिंसक कभी अपनी अहिंसा को काफी नहीं मान सकता है। अपने प्रति निर्मोह, दूसरे के प्रति प्रेम अर्थात् अहिंसा की परिभाषा है।

बस, अब हुआ। गिनती आगे भी बढ़ सकती है। पर अब मैं पीछे हटूंगा। आज तो निश्चय मैंने आपको बहुत उकता दिया है। पर कोई हरज नहीं है। अब आप खुश हों कि मैं आप से अब अपनी जगह जाने की अनुमति लेता हूं। मुझे क्षमा करें। प्रणाम!

नारी और धर्म

[वक्ता—श्रीमती हीराकुमारी देवी, कलकत्ता]

सब से पहले मैं कुछ ऐसी बातें बता देना चाहती हूँ जिन से आप सब को यह मालूम हो जाय कि जैन समाज की स्त्रिया धर्म किसे समझती हैं? हम जैन समाज की स्त्रियाँ नाना प्रकार की धार्मिक क्रियाएँ करती आ रही हैं, धर्म के लिए कष्ट भी सहन करने को तैयार रहती हैं। पंचमी, चतुर्दशी आदि का उपवास करती हैं। कभी आठ दिन, पंद्रह दिन और कभी तो एक मास तक का भी उपवास करती हैं। यह तप जैसा कि कुछ लोग कहते हैं वैसा तो सरल है नहीं।

इस मे मन पर काबू रखना पडता है, शरीर को भी तकलीफ पहुँचती है, तथापि हम उपवास आदि उत्साह के साथ करती हैं, दूसरे के रोकने पर भी हम तप करना नहीं छोड़ती हैं। व्रत सम्पूर्ण होने पर जब तक धूमधाम से उसका उद्यापन नहीं होता, तब तक हमको सन्तोष नहीं होता है। इसलिए हम उद्यापन करने के लिए पैसा भी खर्च करती हैं और कराती हैं। साधुओं की वैयावृत्त्य भक्ति करती है। शक्ति के अनुसार यात्रा भी करती हैं। ज्ञान-पंचमी के रोज ग्रन्थों की, शास्त्रों की पूजा करके ज्ञान की आराधना की इतिश्री मान लेती हैं। हम लोगों को बचपन से धार्मिक शिक्षा भी मिलती है। सामायिक, प्रतिक्रमण आदि कंठस्थ कर लेती है। हम मे से कोई कोई कर्म-ग्रन्थ आदि भी पढ़ लेती हैं।

इन सब बातों मे मुख्यतया हमारा धर्म समा जाता है। हमारा कुटुम्ब और समाज भी इसी को धर्म मानता है और इस धर्म की रक्षा का तथा पालन का भार अधिकतर स्त्रियों के ऊपर ही रखा हुआ है। हम भी इतना कर के अपने धार्मिक अभिमान को पुष्ट करती हैं।

पर हमे तो अभी यह सोचना है कि क्या इन धार्मिक आचरणों से स्त्रियों का जीवन सुखी है? क्या उनको इतने मे ही सन्तोष हो जाता है? यदि उनका जीवन सुखी हो, उन्हें सन्तोष मिल रहा हो, तब तो कुछ कहने की जरूरत

नहीं है। परन्तु हमे दीख रहा है कि ऐसा धर्माचरण करने पर भी उन का जीवन सुखी नहीं है, उन के जीवन मे सन्तोष नहीं है। उपवास आदि सब तरह की धार्मिक क्रियाएँ करने पर भी उन की आँखों मे आँसू कभी सूखता नहीं। उन के जीवन मे आनन्द की जगह उदासी छाई हुई रहती है। किसी भी पुरानी या नयी वस्तु को ठीक ठीक जानने का और ग्रहण करने का न तो उन मे उत्साह दिखलाई देता है और न उमंग। वे अपने जीवन के छोटे-बड़े किसी सवाल को हल नहीं कर सकतीं। कोई कठिन संकट उपस्थित हो तो धर्म के बल पर उस का सामना नहीं कर सकतीं। इतना ही नहीं बल्कि उस समय उन्हें अनाथता और निराधारता का अनुभव होता है। वे परम्परागत आचारों का पालन करती हुई निस्तेज-सा अपना जीवन बिताती हैं। सामायिक, प्रतिक्रमण आदि धार्मिक क्रियाएँ करते रहने पर भी आपसी लड़ाई और ईर्ष्या-द्वेष दिनों-दिन बढता ही जाता है। धर्म का आदर्श विशाल बनाना तो दूर रहा, हम उसे समझने की कोशिश भी नहीं करतीं। छूने मे दोष, खाने मे दोष, जाने मे दोष, मानो हम स्त्रियों के वास्ते सारा जगत ही दोषों की खान बन गया और हमारे लिए सिर्फ पारलौकिक सुख ही एक मात्र काम्य रह गया है। मुक्ति पाना ही एक मात्र आदर्श रह गया है, पर उसे पाने के लिए जो हमारा प्रयत्न है वह इतना अधूरा है कि हम उसे

प्रयत्न भी नहीं कह सकतीं। हमारा सारा आचार अज्ञान-मूलक होने से हम हमारे ध्येय से दिनों-दिन दूर होती जाती हैं। हम कठिन से कठिन तपस्या करना तो चाहती हैं किन्तु अपना परिश्रम सफल कैसे हो, इस की चिन्ता नहीं करतीं। जीवन मे आनन्द के स्थान पर उदासी छाई हुई रहती है पर धर्म और उदासी का कोई मेल नहीं है। धार्मिक जीवन तो वह है जिसमे उत्साह हो, प्रसन्नता हो, ज्ञान हो, दूसरों के प्रति आदर हो और कभी निराधारता न महसूस हो। इसी से विचार आता है कि तब वास्तविक धर्म क्या है ?

अपने शास्त्रों मे दो प्रकार का धर्म कहा गया है। एक श्रुतधर्म, दूसरा चारित्र-धर्म। दूसरे नाम से कहना हो तो एक को ज्ञान और दूसरे को आचरण के नाम से कह सकते हैं। श्रुतधर्म का अर्थ सिर्फ शास्त्रों को पढ़ना ही नहीं है। इसमें विचार का, मन का, दूसरों के प्रति-व्यवहार का, और जितने भी प्रकार का ज्ञान है सब का समावेश हो जाता है।

जिन वस्तुओं को मननपूर्वक सोच—समझ कर अपने जीवन मे उतारा जाता है, उनका चारित्र-धर्म मे समावेश होता है। जीवन मे पहले श्रुतधर्म—ज्ञान धर्म आता है, बाद मे चारित्र-धर्म आता है।

हम स्त्रियों ने इन दोनों धर्मों का विपरीत क्रम रखा। हमने

पहले चारित्र-धर्म को रखा और ज्ञान-धर्म को तो छोड़ ही दिया। इस के फल स्वरूप हम ने चारित्र-धर्म के पालने में ही अपनी शक्ति खतम कर दी और जीवन में श्रुतधर्म आया ही नहीं और श्रुतधर्म के विना चारित्र-धर्म की शुद्धि और सफलता कैसे आ सकती है?

क्रियाओं का, आचारों का महत्व उनके पीछे की भावनाओं पर अवलम्बित है क्योंकि किसी वस्तु का मनन किए विना उस को व्यावहारिक रूप देना मुश्किल है। धार्मिक क्रियाओं के मूल में सत्य की, अहिंसा की, निडरता की, निष्ठा की भावनाएँ रहीं और काल के अनुसार, देश की परिस्थिति के अनुसार और जनता के विचार-सामर्थ्य के अनुसार उन सब भावनाओं को व्यावहारिक रूप दिया गया परन्तु धार्मिक क्रियाएँ जितनी पुरानी होती जाती हैं, उन के पीछे का निश्चय और विचार-बल उतना ही दूर होता जाता है और उन का व्यावहारिक रूप यानी बाह्याडम्बर उतना ही बढ़ता जाता है। आज हमारे जीवन में मनन का, श्रुत-धर्म का कोई स्थान नहीं है और इसीलिए चारित्र-धर्म का क्रिया-कलाप अधूरा ही रह गया।

मनन की शक्ति से, विचार के बल से चित्त निडर बनता है परन्तु हम में श्रुतधर्म न रहने के कारण हम बोलने मे डरती हैं, कहीं अकेले जाने मे डरती हैं, किसी नयी बात

को करने में हिचकिचाती हैं, हम मे कितनी शक्ति है इसका विचार नहीं करतीं। दूसरो की सोची हुई वातों को हम सोचती हैं, दूसरे जो कराते हैं वही करती हैं। खुद सोच-समझ कर नयी और काम की वातें नहीं अपनातीं। इससे जव कभी भी हम गलत रास्ते पर जा सकती हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि जव तक हम स्त्रिया अपने वल पर खड़ी न होंगी, तव तक जीवन का कोई भी प्रश्न हल नहीं हो सकता है।

हजारो कर्त्तव्य रहने पर भी हम स्त्रियों का इस समय प्रथम कर्त्तव्य है अपना श्रुतधर्म का विस्तार। जव तक ज्ञान के द्वारा, अनुभव के द्वारा हमे सच्ची समझ नहीं होगी तब तक हम बाहरी उलझन में फँसी हुई रहेगी। न कभी वह उलझन सुलझेगी और न हमे साफल्य ही मिलेगा। उसे पाने के लिए ज्ञान की, विचार की ही जरूरत है। महान पुरुषों का कहा हुआ है, इसलिए वह स्वीकार्य्य है—इतना ही मात्र न सोच कर अपने जीवन मे उसका क्या उपयोग है, यह भी हमे स्वय सोचना चाहिए। स्वयं सोची हुई वात का अनुसरण करने ही से विकास में अधिक मदद पहुंचती है। महान पुरुष भी कहते हैं "हम ने जो सोचा, कहा और जीवन मे उतारा, अन्धश्रद्धा से उसका अनुसरण न करो, उसे सोचो, समझो और तुम्हें ठीक जँचता हो तो उसे अपने जीवन में उतारो। इसी में तुम्हारा विकास है।"

श्रुतधर्म के विकास मे जितनी भी बाधाएँ है, एक एक कर के सब को दूर करना होगा। सब से प्रथम बाधा अपने मन की है। पीढियों के संस्कार से मन संकुचित और भीरू हो गया है। समाज की परिस्थिति के कारण किसी वस्तु को जानने का, समझने का सुयोग ही नहीं मिलता है। सौभाग्य से सुयोग मिल भी जाय तो इधर-उधर की व्यर्थ बातों में हम समय बर्बाद कर देती हैं। न किसी बात को ध्यानपूर्वक सुनती है, न उस पर कुछ विचार करती हैं। मन की यह दुर्बलता जब तक दूर नहीं होगी, जब तक मन मे जानने का आग्रह पैदा नहीं होगा, तब तक श्रुतधर्म का आना सम्भव नहीं है।

श्रुतधर्म के विस्तार का दूसरा बाधक पर्दा है। पर्दे के कारण हमे यथारीति से शिक्षा नहीं मिलती। न हम किसी से मिल सकती है, न किसी से विचार-विनिमय कर सकती हैं। समाज के, देश के किसी भी काम मे भाग नहीं ले सकती हैं। न मालूम किस अशुभ मुहूर्त्त में पर्दा प्रथा चल पड़ी थी कि आज इस विमानी परिवर्त्तन के युग में भी पर्दा नहीं उठा। इस के लिए पुरुष या नारी किस को दोष दिया जाय? हम स्त्रियां मन को दुर्वलता के कारण, नासमझी के कारण, शिक्षा के अभाव से इस पर्दा को उठा कर फेंक नहीं सकतीं। यह हमारे जीवन के विकास मे कितना बाधक है, कितना हानि-

कारक है, यह समझ नहीं पातीं। पुरुष समझदार, शिक्षित कहला कर, स्वतन्त्रता की हवा मे पल कर भी इस पर्दे को उठा नहीं सकते। वे स्वतन्त्रता का, जीवन के विकास का मूल्य नहीं समझते हैं। क्या ऐसा तो नहीं है कि जिस कारण से राज्यकर्त्ता भारत को स्वाधीन करने में डरते हैं, ठीक उसी कारण से पुरुष पर्दा उठाने मे भी डरते हों। परन्तु इस तरह का डर फिजूल है। भारत के सिवाय भी विदेशी निभ सकते है और विदेशियों के सिवाय भी भारत निभ सकता है। पर नारी और पुरुष का सम्वन्ध ऐसा नहीं है। इस सम्वन्ध को तोडने पर भी टूट नहीं सकता। फिर यह डर क्यों ?

इस पर्दे की वजह से हम किसी तरह की शिक्षा नहीं पातीं और न शिक्षा की प्रयोजनीयता ही महसूस करती हैं। घर के कामकाज के वारे मे जो शिक्षा हमें मिलती है, वह भी अधूरी ही मिलती है।

एक तो वाहरी साधनों से ज्ञान वढता है, दूसरा अपने अनुभव से। हम मे इन दोनों वातों की कमी है। हमे ज्ञान वढाने के लिए कोई वाहरी साधन नहीं मिलता है। हमारा अनुभव का क्षेत्र भी घर की चारदिवारी तक ही सीमित रहता है। तव किस वल पर हमारी घर की शिक्षा हमारे लिए पूर्ण हो सकती है।

हमारी अशिक्षा के कारण हम किसी तरह का उत्तरदायित्व चाहे वह बच्चों का, कुटुम्ब का, समाज का या देश का हो, उस को लेने मे और निभाने मे हिचकिचाती हैं। कुटुम्ब, समाज और देश के प्रति प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य होता है। सोच-समझ कर उस कर्त्तव्य का भार अपने ऊपर ले लेना, यथाशक्ति उस को पूरा करना चारित्र-धर्म है और यही जीवन का सच्चा धर्म है। अपने नैतिक जीवन को उन्नत बनाना, बच्चों के तथा दूसरों के नैतिक जीवन को उन्नत बनाना, अपने प्रति जैसा आचरण अच्छा लगता हो, वैसा ही आचरण दूसरों के प्रति करना, यही चारित्र-धर्म है।

इस चारित्र-धर्म को अपने जीवन मे उतारने के लिये शिक्षा का, ज्ञान का जितना भी क्षेत्र है सब मे हमारी अबाध गति होनी चाहिये। इस के लिये समय, सुयोग, और लगन की पूरी जरूरत है।

इन श्रुत और चारित्र धर्मों के अलावा हमारा एक और धर्म है। वह है अमरता की पुजारिन बनना। हम नारियाँ अमर होने की शक्ति रख कर भी इस शक्ति का विकास नहीं करतीं। पुरुषों के परिश्रम का फल भोग कर अपने को कृतकृत्य मान लेती हैं। इस से हम अमर नहीं बन सकतीं। यदि हमे मनुष्य-जाति के एक अङ्ग के नाते जगत मे स्थान पाना है तो अपनी इस शक्ति का विकास करना होगा, इसको

सफल बनाना होगा। साधारण भूमिका से हमे ऊपर उठना ही होगा। यदि हमें अमृत की पुत्री कहलाना हो तो सिर्फ घर-बार की संकुचितता छोड़ कर अमरता की खोज करनी ही पड़ेगी। पुरुष-जाति की तरह अपने कर्त्तव्य के लिए हजारो वर्ष तक अथक परिश्रम से तपस्या चालू रखनी होगी। जब हम अमरता की पुजारिन हो कर अर्थात् कला मे, साहित्य मे, दर्शन मे, विज्ञान मे, अनुभूति मे अपना असाधारण व्यक्तित्व रख कर, स्व-पराक्रम से वासनाओं पर विजय पा कर, मानव-कल्याण की भावना से प्रेरित हो कर उस अमरता की, उस अविज्ञात वस्तु की खोज मे जायेंगी, तभी हमारे जीवन मे और धर्म मे सचा तेज आवेगा। और यही हम नारियो का धर्म है। इसमे हम सदा ही प्रसन्न और सन्तुष्ट रह सकती हैं, कभी उदास, दीन और डरपोक नहीं।

निश्चय धर्म और व्यवहार धर्म

[वक्ता—पंडित दरबारीलालजी 'सत्यभक्त', वर्धा]

जब आत्मा शरीर को छोड कर इस दुनिया मे चक्कर लगाया करता है, तब उसे लोग भूत कहते हैं - उससे लोग डरते हैं - वह हमारे काम का नहीं रहता। जब शरीर आत्मा को छोड कर अलग पड़ जाता है, तब उसे मुर्दा कहते हैं वह भी किसी काम का नहीं रहता। हिन्दू उसे जला देते हैं, मुसल-

---

नोट—कलकत्ते की पर्युषण व्याख्यानमाला मे मेरे दो व्याख्यान हुए, पर कुछ कारणों से मुझे यह भ्रम हो गया कि ये दोनो व्याख्यान पुस्तकाकार न छापे जायेंगे। व्याख्यान के तीव्र प्रवाह के कारण

मान उसे गाड़ देते हैं। इस प्रकार प्राण-रहित शरीर और शरीर-रहित प्राण बिलकुल बेकाम है। यही हाल धर्म के निश्चय और व्यवहार रूपों का समझना चाहिये। व्यवहार-रहित निश्चय भूत है, निश्चय-रहित व्यवहार मुर्दा है। निश्चय और व्यवहार—जहाँ दोनों का मिलन है, समन्वय है, वही जिन्दा धर्म कहा जा सकता है, वही हमारे काम का हो सकता है।

शरीर जैसे बदलता रहता है, उसी तरह व्यवहार भी बदलता रहता है, कभी कभी तो एक शरीर को छोड़ कर दूसरा

मेरे व्याख्यानों के नोट भी किसी ने नहीं लिये। इसलिये जब व्याख्यानों के लिपिबद्ध रूप की मांग मेरे सामने पेश हुई, तब मैं बड़े असमंजस में पड़ा। अहिंसा के व्याख्यान के नोट थे, इसलिये वह तो मैं लिख सका, पर यह व्याख्यान न लिख सका। पर, श्री सिंघीजी का अनुरोध बराबर चालू रहा। अन्त में यह कहा गया कि इस विषय पर मैं अपने विचार संक्षेप में लिख दूँ। सो आज चार मास बाद इस विषय पर कुछ विचार प्रगट कर रहा हूँ। इसे पाठक व्याख्यान का लिखित रूप न समझें। उसके बाद और उसके पहिले मैंने इतने व्याख्यान दिये हैं कि यह मैं किसी भी तरह याद नहीं रख सका हूँ कि उस व्याख्यान में मैंने किस ढंग से क्या बात कही थी। हाँ, भाषा, शैली, क्रम तथा परिमाण का भेद होने पर भी विचार वे ही हैं। —द० ला० सत्यभक्त

शरीर ग्रहण करना पड़ता है। इसी प्रकार कभी कभी व्यवहार मे भी क्रान्ति करनी पड़ती है।

यद्यपि दुनिया मे ऐसे आदमी भी है जो व्यवहार और निश्चय को समतौल रखते है, दोनों का समन्वय करते हैं पर बाकी आदमियों मे कुछ भूत-पुजारी अर्थात् निश्चयैकान्तवादी है और कुछ मुर्दापरस्त अर्थात् व्यवहारैकान्तवादी हैं। दोनों ही धर्म की विडम्बना करते हैं। जैनत्व तो अनेकान्त मे है। जो निश्चय या व्यवहार मे एकान्तवादी हैं, वे जैनत्व नहीं पा सकते। बाप जैनी कहलाता था, इसलिये वे जैनी भले ही कहलावें पर सच्चे जैन नहीं हैं।

धर्म के निश्चय और व्यवहार—ऐसे दो भेद किये जाते है। निश्चय मूल धर्म है, व्यवहार या तो उसका फल है या उसका साधन है। निश्चय का कल्याण के साथ सीधा सम्बन्ध है, व्यवहार का परम्परा-सम्बन्ध है, निश्चय स्थायी है, व्यवहार परिवर्तनीय है। निश्चय और व्यवहार की तरफ इस तरह संकेत करने से हमे उसका कुछ कुछ भान होने लगता है। इसी विचारधारा के अनुसार हमे धर्म के प्रत्येक अंग का निश्चय और व्यवहार रूप समझना चाहिये। जैसे, विनय एक धर्म है। किसी व्यक्ति के विषय मे पूज्य बुद्धि रखने से उसके गुणों का प्रभाव हमारे ऊपर पड़ता है, दूसरे लोग भी गुण का सत्फल देख कर गुणी बनने की तरफ झुकते हैं।

जिस के प्रति हम विनय करते हैं, उस का स्नेह हमें मिलता है; सहायता और सद्बोध हमें मिलता है, इसलिये हमें भी प्रसन्नता होती है। विनय का यह सत्फल एक स्थायी वस्तु है। पर विनय के बाहरी रूप नाना हैं। कहीं पैर छूना, कहीं घुटने के बल झुक कर हाथ चूमना, कहीं टोप उठाना, कहीं सिर झुकाना, कहीं हाथ जोड़ना, आदि। ये रूप देश, काल और अपनी परिस्थिति के अनुसार बदल सकते हैं, बदलते रहते हैं। इस प्रकार विनय हुआ निश्चय धर्म, इसको प्रगट करने के लिये बाह्याचार हुआ व्यवहार धर्म। बाह्याचार बदलता है, पर कोई न कोई रूप रहता है। अब अगर कोई कहे व्यवहार की कोई आवश्यकता नहीं है, हमें तो निश्चय ही चाहिये तो व्यवहार-शून्य उसका निश्चय न तो हो ही सकता है, न रह सकता है। इसी प्रकार कोई कहे कि निश्चय की कोई जरूरत नहीं है तो निष्प्राण शिष्टाचार व्यर्थ का बोझ बन कर रह जायगा। यही बात हरएक धर्म के विषय में है। यहां विनय और शिष्टाचार का उल्लेख तो मैंने एक उपमान के रूप में किया है।

निश्चय धर्म और व्यवहार धर्म क्या है? यह जानना हो तो पहिले यह जानना चाहिये कि धर्म का ध्येय क्या है। पंडिताई दिखाने के लिये इस विषय मे बहुत सी बातें कही जा सकती हैं, पर एक सीधी-सी बात यह है कि जगत के

जीवों को सुखी बनाने के लिये और दुख से दूर करने के लिये धर्म है। इस काम में जिस का सम्बन्ध निश्चित है, वह तो निश्चय धर्म है और जो उसका सामयिक या व्यवहारी रूप है, वह व्यवहार धर्म है।

क्रोध, मान, माया, लोभ का त्याग, निःस्वार्थ वृत्ति, परोपकारशीलता, न्यायपरायणता, अवस्था-समभाव, जाति-समभाव, धर्म-समभाव आदि ऐसी वृत्तिया हैं जिन से हम भी दुःख से छूट कर सुखी हो सकते है और दूसरे भी। सुख के लिये इन की जरूरत सदा निश्चित है, इसलिये यह निश्चय धर्म हैं। परन्तु क्रोध आदि को दबाने के लिये जो जो प्रयत्न किये जाते है, परोपकार के लिये दान आदि जो काम किये जाते हैं, इसी प्रकार और भी अनेक निश्चय धर्मों के लिये जो जो कार्य किये जाते हैं या निश्चय धर्म प्राप्त हो जाने पर जो जो कार्य स्वाभाविक ढंग से होने लगते हैं, वे व्यवहार धर्म है। जहाँ निश्चय धर्म है, वहा उस का कोई न कोई व्यावहारिक रूप भी अवश्य है। इसलिये जो लोग यह कहते है कि 'व्यवहार छोडो, निश्चय को प्राप्त करो' वे ठीक नहीं कहते, उन्हें यह कहना चाहिये कि 'व्यवहार को निश्चय के अनुकूल बनाओ, व्यवहार को निश्चय बात बनाओ। व्यवहार में विवेक से इस तरह काम लो कि वह निश्चय को प्राप्त करा सके।

विवेक-हीन व्यवहार बहुत हास्यास्पद चीज है। इस से हमारी शक्ति बहुत बर्बाद होती है। बहुत कुछ करके भी हम कुछ नहीं कर पाते।

एक मा ने अपने बेटे से एक बार कहा—बेटा, इस तरह घर मे बैठने से काम न चलेगा, बाजार जा, कुछ मिहनत कर, पसीना बहा, तब पैसा मिलेगा।

आज्ञाकारी बेटा बाजार मे चला गया और एक जगह दंड-बैठक लगाता रहा। यहां तक कि खूब पसीना बहने लगा पर पैसा न मिला। निराश और दुखी हो कर घर आया, माँ को उलहना देने लगा कि मैं तेरे कहने से बाजार गया, पसीना बहाया पर एक भी पैसा न मिला।

निश्चय को छोड़ कर व्यवहार के पुजारी—रूढ़ियों के गुलाम धर्म को ऐसा ही उलहना देते हैं। वे विवेक-हीन हो कर बहुत कुछ करते हैं, महामुनि और महाश्रावक बन जाते हैं पर कल्याण के नाम से कुछ नहीं पाते।

आज जैनियो के भीतर दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी आदि विविध संप्रदाय हैं; एक दूसरे को वे मिथ्यात्वी आदि कहते हैं, आपस मे लड़ते हैं, दलबन्दियां करते हैं—यह सब मुर्दापरस्ती अर्थात् निश्चयहीन व्यवहार का फल है। अगर निश्चय के द्वारा ये व्यवहार को प्राणवान बना लें, तो इन

सब सम्प्रदायों की सब बातें रहने पर भी ये सम्प्रदाय न रहें, इन मे साम्प्रदायिक कट्टरता न रहे।

एक निश्चय के व्यावहारिक रूप अनेक हो सकते हैं। अपनी अपनी रुचि और परिस्थिति के अनुसार उन मे से एक का या बहुत का उपयोग किया जा सकता है। देखना यह चाहिये कि वे व्यावहारिक रूप को निश्चय की तरफ ले जाते हैं या नहीं; यदि नहीं ले जाते हैं, तो सब झूठे हैं और ले जाते हैं, तो सब सच्चे हैं। यह अनेकान्त दृष्टि अगर हमे मिले तो धर्म के नाम पर हमारे चिथड़े-चिथड़े न बनें। हमारे अनेक रूप एक दूसरे के पूरक बनें, छेदक और भेदक न बनें।

जो निश्चय को पा लेते हैं, उन्हें व्यवहार के लिये प्रयत्न नहीं करना पडता। वह आप से आप आ जाता है। प्राण अपने लिये शरीर ढूँढ ही लेता है पर मुश्किल यह है कि हम मे से कुछ लोग निश्चय का ढोंग करते हैं, अपनी अकर्मण्यता और स्वार्थवृत्ति छिपाने के लिये आवश्यक व्यवहार से भागते हैं और आलस्य की पूजा करते हैं। और समझते हैं कि हम ने निश्चय पा लिया।

निश्चय के नाम पर दम्भ करने वाले लोगों की इस देश मे कमी नहीं है। करीब साठ लाख आदमी निश्चय की ओट मे इस देश की छाती पर सवार हैं। उन के बोझ से हम कराह रहे हैं, पर मूढतावश कुछ कह नहीं सकते क्योंकि ये

अपने को साधु कहते हैं और साधु इसलिये है कि ये बे-जिम्मेवार हैं, मुफ्तखोर भी हैं।

साधु तो वे हैं जो जगत से कम से कम लेते हैं और अधिक से अधिक देते हैं, शरीर-पोषण के लिये जो कुछ लेते हैं, उसकी कीमत चुकाते हैं या कभी की चुका चुके हैं। साधु की परिभाषा मैंने यही बनाई है। इस परिभाषा के अनुसार भी साधु हैं और सभी सम्प्रदायों में हैं, पर उन्हें तो साठ लाख से अलग ही समझना चाहिये। उनको साधु समझने वाले, उनकी साधुता को देखने वाले लोग इनेगिने ही हैं। खैर, कहने का मतलब यह है कि अकर्मण्यता और बे-जिम्मेवारीपन निश्चय धर्म नहीं है।

एक व्यवहार को छोड़ कर दूसरा व्यवहार पकडना ठीक हो सकता है, पर व्यवहार की सब सुविधाएँ पाते हुए भी व्यावहारिक जिम्मेवारी से भागते रहना और फिर निश्चय की दुहाई देना पूरी वञ्चना है। ऐसे लोग निश्चय और व्यवहार को समझे नहीं हैं।

बहुत से लोगो ने भ्रमवश या स्वार्थवश निश्चय और व्यवहार की परिभाषा में भी ऐसी गड़बड़ी कर रक्खी है कि जिस से उन्हें अपनी अकर्मण्यता छिपाने में पूरी सुविधा होती है। उन्होंने निश्चय का अर्थ निवृत्ति और व्यवहार का अर्थ प्रवृत्ति कर लिया है, जब कि निवृत्ति—प्रवृत्ति से निश्चय—

व्यवहार का कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। निश्चय मे भी निवृत्ति और प्रवृत्ति है, व्यवहार मे भी प्रवृत्ति और निवृत्ति है। मिथ्यात्व से आप निवृत्त हुए कि सम्यक्त्व मे प्रवृत्त हुए, मिथ्यात्व का आचार गया कि दर्शनाचार आया। धर्म बिलकुल निषेधात्मक नहीं है, उसका विधि रूप भी है। चारित्र चित्शक्ति का एक रूप है, केवल निषेधात्मक ही चारित्र होता, कषाय-त्याग या दुराचार का त्याग ही यदि चारित्र होता, विश्व-प्रेम सदाचार आदि उसका विधि रूप या प्रवृत्ति रूप कुछ न होता तो इस पंडाल मे लगे हुए खंभे सब से बड़े चारित्रवान् होते। निवृत्त्येकान्त अकर्मण्यता है, जडता है, इस तरह वह हैवानियत है। इसी प्रकार प्रवृत्त्येकान्त निरालिता है, पागलपन है, इसलिये वह शैतानियत है।

जिन लोगों ने अपने जीवन का ऊँचे से ऊँचा विकास किया है, जो धर्म के मर्मज्ञ, पूर्णज्ञ और इसी लिये सर्वज्ञ कहे जाते है, उन अरहन्तों मे भी प्रवृत्ति और निवृत्ति का जोड़ा तथा उनका समन्वय पाया जाता है। उन से बढ़ कर निश्चय धर्म का पाने वाला और कौन होगा, पर जीवन भर वे प्रवृत्त रहते हैं और वह प्रवृत्ति भी ऐसी-वैसी नहीं, किन्तु कूर्मापुत्र सरीखे केवलियों के ऐसे उदाहरण भी मिलते है जिन्होंने केवलज्ञान होने पर भी घर मे रह कर माता-पिता की सेवा की थी। इस से मालूम होता है कि निश्चय

धर्म की सीमा पर पहुंच कर भी जैन धर्म के अनुसार मनुष्य विश्व-हित के लिये, अपनी जिम्मेवारी पूरी करने के लिये, कितनी प्रवृत्ति कर सकता है। यह प्रवृत्ति सिर्फ उस समय बन्द होती है, जब मरने के लिये एक मिनट से भी कम समय रह जाता है जिसे चौदहवाँ गुणस्थान कहते है। शरीर-धर्म के अनुसार भी यह निश्चेष्टता स्वाभाविक है।

इस प्रकार सम्यक् चारित्र मे, निश्चय और व्यवहार के समन्वय मे, प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों का स्थान है। जैन धर्म का अनेकान्त इसलिये नहीं है कि हम वाद-विवाद मे इस पक्ष से उस पक्ष में और उस पक्ष से इस पक्ष मे कूद कर आत्मरक्षा किया करें, किन्तु वह इस मे है कि हम सम्यक्-चारित्र के लिये उसका उपयोग करें। सम्यग्ज्ञान सम्यक्-चारित्र के लिये है, अनेकान्त सम्यग्ज्ञान का सब से अधिक महत्त्वपूर्ण अंग है, उस के बिना सम्यक्-चारित्र नहीं हो सकता और अगर वह सम्यक्-चारित्र के काम मे नहीं आता तो उसका पढना – न पढना एक सा ही है।

निश्चय और व्यवहार, इन दोनों का स्वरूप हमे ठीक ठीक समझना चाहिये और उनका समन्वय करना चाहिये जिससे ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार से हमारी उन्नति हो, समाज मे सुव्यवस्था हो और व्यक्तिगत रूप से जीवन का ऊँचे से ऊँचा विकास हो। धर्म की उपयोगिता इसी मे है, चाहे वह निश्चय हो या व्यवहार।

श्री काका कालेलकर

[चित्रकार—इन्द्र दूगड

अहिंसा के तीन ऋषि

[वक्ता—श्री काका कालेलकर, वर्धा]

बुद्ध भगवान असाधारण कलाधर थे। उन के जीवन में और उन के उपदेश में उच्च कलातत्व पाया जाता है, और यही कारण है कि दुनिया भर के संस्कारी लोग बौद्ध धर्म के प्रति और बौद्ध साहित्य के प्रति इतने आकर्षित हुए हैं। बुद्ध भगवान का जीवन भी इतना कलापूर्ण है कि भिन्न-भिन्न देश के कवि और नाटककार बुद्ध की जीवन-कथा को लेकर अपनी कवित्व-शक्ति आजमाने के लिये लालायित हो उठे हैं।

दो सिरों को छोड कर मध्यम मार्ग लेने की बुद्ध भगवान की नसीहत इसी कलावृत्ति की द्योतक है। ग्रीक फिलसूफ ॲरिस्टोटल और बुद्ध भगवान मे यह बडा साम्य है कि दोनों सम्यक्-दृष्टि और सम्यक्-जीवन पर इतना जोर देते हैं।

बुद्ध भगवान ने अहिंसा का पुरस्कार किया, किन्तु उन्होंने मासाहार का निषेध नहीं किया। उन की अहिंसा मनुष्य मनुष्य के बीच 'अवेर' भावना रखने तक ही सीमित थी। पशु-हिंसा के बारे मे वे इतना ही कहते थे कि धर्म के नाम से—बलिदान के तौर पर—पशु-हत्या न करो। साधुओं को वे कहते थे कि अपने आहार के लिये किसी को पशु न मारने दो।

बुद्ध भगवान जन्मत' क्षत्रिय थे, स्वभाव से प्रचारक ब्राह्मण थे, किन्तु उन के जीवन मे और उन की जीवन-दृष्टि मे प्रधानता कलात्मकता की ही है।

(२)

महात्मा गाधीजी भी अहिंसा के पुरस्कर्ता हैं। अहिंसा का संदेश भारतवर्ष ने वैदिक काल से सुना है, और सुनाया भी है। अहिंसा गाधीजी का कोई नया आविष्कार नहीं है, तो भी गाधीजी का अहिंसा-दर्शन उनका निजी है, बिलकुल

नया है और आज की दुनिया के लिये अत्यन्त व्यापक और सार्वभौम है।

अगर बुद्ध भगवान जीवन के कलाकार है तो गाधीजी जीवन के लडवैया है। उन के जीवन मे कला का तत्व पूर्णतया भरा हुआ है, तो भी उस का पुरस्कार वे परिमित मात्रा मे ही इसलिये करते है कि उन की क्रांतिकारी युद्धयमान प्रवृत्ति मे वह बाधक न हो। गाधीजी शाति के भक्त है किन्तु निरी शाति के उपासक नहीं हैं। वे सब जगह अहिंसक युद्ध चाहते है। रचनात्मक कार्य के सब से बड़े आचार्य, वे असल मे योद्धा ही हैं।

बुद्ध भगवान ने युद्ध की विफलता दुनिया को समझाई लेकिन युद्ध-संस्था का विरोध न किया। तो भी बुद्ध भगवान का रुख वैर-त्याग की ओर ही था। उन का एक वचन आज के सारे यूरोप के लिये ध्यान मे रखने लायक है। "जयं वेरं पसवति, दुखं सेते पराजितो"—किसी पर विजय पायी तो उस मे से वैर बढता ही है, क्योंकि जिस की हार हुई, उसे सुख से नींद नहीं आती है। वह बदला लेने की नीयत से सवाई तैयारी मे लग जाता है।

गाधीजी ने अहिंसा को मनुष्य-जीवन मे सार्वभौम बनाना चाहा है। मनुष्य-जाति की संस्थाएँ, उस के जीवन के आदर्श और उस की विचारधारा, सब ही मे वे क्राति

करना चाहते हैं। गांधीजी का युद्ध-विरोध उन के जीवन के साथ गहरा होता जाता है। वे जीवन-कलाधर होने के कारण परिस्थिति के साथ अपना सामंजस्य करना जानते हैं।

(३)

महावीर स्वामी बुद्ध भगवान के समकालीन होते हुए भी उन की अहिंसा उन के जमाने के लिये नहीं थी। कठिन समय आ पड़ने पर मनुष्य-मास को भी हजम करने वाला वह जमाना था। और ऐसे जमाने को उन्होंने उपदेश दिया कि पशुपक्षी आदि की तो बात ही और, लेकिन वनस्पति में और जड़-सृष्टि में भी जान है और उस के प्रति भी हमें अहिंसा-धर्म का पालन करना है।।

भगवान महावीर जीवन के तपस्वी थे। उन्होंने अहिंसा के सम्पूर्ण स्वरूप को समझने की और समझाने की कोशिश की, और उस के साथ यह भी अनुभव किया कि तपस्या के विना हम न तो अहिंसा को समझ सकते हैं, न उसका पालन ही कर सकते हैं।

यह तपस्या किस ढंग की होनी चाहिये, इस के भी प्रयोग और आविष्कार होने चाहिये। अहिंसा का साक्षात्कार क्रम-मुक्ति के जैसा दिन-ब-दिन बढ़ने वाला है। और सच्ची तपस्या का स्वरूप-निर्णय भी प्रयोग से ही सिद्ध होने वाला है।

* * * *

आज-कल की दुनिया अक्सर तपस्या से घबड़ाती है। तपस्या पर वह विश्वास नहीं रखती, और जहां तक संभव हो, तपस्या के विना ही चलाना चाहती है।

इधर पुरानी दुनिया तपस्या के पुराने ढंग को ही ले कर बैठी है। वह अब भी नहीं समझती कि सिर्फ कायक्लेश या शरीर-पीड़न कोई तपस्या नहीं है। तपस्या को वैज्ञानिक और आध्यात्मिक दृष्टि से समझने की जरूरत है। तपस्या का शुद्ध स्वरूप जब निश्चित होगा, तब अहिंसा का विकास पूरे वेग से होगा।

महावीर के संदेश को पूर्णतया अमल में लाने का जमाना अभी तक नहीं आया है। लेकिन वह आये बिना रहने वाला भी नहीं है क्योंकि अहिंसा के बिना—सम्पूर्ण अहिंसा के बिना—जीवन सम्पूर्णतया कृतार्थ नहीं होगा।

उस के लिये बुद्ध भगवान का अष्टांगिक मध्यम मार्ग, गांधीजी का लड़ाका सत्याग्रह और महावीर की आत्मशक्ति बढ़ाने वाली तपस्या, यह त्रिविध शक्ति या साधना सिद्ध करनी होगी।

जैन साहित्य

[वक्ता—पंडित हजारीप्रसादजी द्विवेदी, शांतिनिकेतन (बोलपुर)]

आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले भगवान् महावीर ने साधना का जो प्रदीप जलाया था, वह आज भी प्रकाश विखेर रहा है। सहस्राब्दियां बीत गई हैं, भारतवर्ष के भाग्याकाश में बहुत से धूमकेतु आये हैं और गये हैं, देशी और विदेशी उत्पातों की अनेक काल-रात्रियां गई हैं और आई हैं, बर्बर और अर्थ-लिप्सु जातियों के अत्याचार से कितनी ही बार वायुमंडल विकंपित हुआ है और कायर तथा स्वार्थान्ध शासकों की जड़िमा से देश की आत्मा सिकुड़ गई
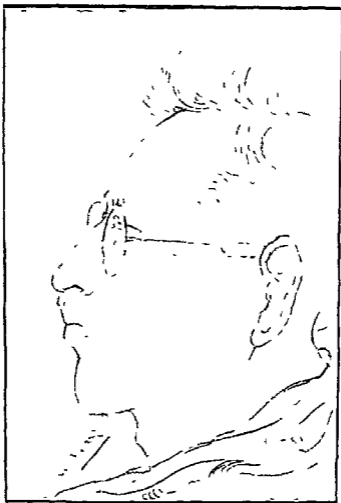
पं० हजारीप्रसादजी द्विवेदी

[चित्रकार—इन्द्र दूगड़

है, फिर भी वह अखण्ड ज्ञान-ज्योति जलती रही है। यद्यपि दूर हूँ, तथापि मैं उस काल को स्पष्ट देख रहा हूं—जब बर्बर हूणों ने इस शान्तिप्रिय देश को भस्मस्तूप मे परिणत कर दिया था, जब नगरिया विध्वंस्त हो गई थीं, जब शस्यक्षेत्रों पर आग की लहरें नाचा करती थीं, जब शांति और अहिंसा की कल्पना भी असम्भव मालूम होती थी। उस दारुण सर्वनाश को देख कर ही मानो भारतवर्ष के अमर कवि कालिदास ने गाया था कि जिन नगरियों के राजपथ अभिसारिकाओ के नूपुर-सिंजन से मुखरित हुआ करते थे, वहा सियार रो रहे थे, जिन पुष्करणियो मे नागरिकाओ की जल-क्रीड़ा के समय के मृदंग-घोष से मधुर, गंभीर ध्वनि उठा करती थी, उन्हें जंगली भैंसे अपने सींगों से गदला कर रहे थे, महलों के काठ के खंभों पर जो मूर्तिया उत्कीर्ण थीं, वे धूल और धुंए से मलिन हो गई थीं और उन पर सांप की केंचलें चादर की तरह लटकी हुई थीं, राजप्रासादो की दीवारें फट गई थीं और उन मे तृणाकुर निकल आये थे, उद्यान-लतायें वानरों के द्वारा बुरी तरह छिन्न-भिन्न कर के मसल दी गई थीं और वे गवाक्ष जो रात मे दीपक की ज्योति से और दिन मे गृह-लक्ष्मियो की मुख-श्री से उद्‌भासित न हो सकने के कारण श्रीहीन हो गये थे, मकडियों के जालों से ढक दिये गये थे—

रात्रावनाविष्कृत दीप भास· कान्ता मुखश्री वियुता दिवापि
तिरस्क्रियन्ते कृमितन्तु जालै विच्छिन्न धूम प्रसरा गवाक्षाः।

इस प्रकार देश के बड़े बड़े नगर वीरान हो गये थे। इसकी प्रतिक्रिया भी बड़ी जबर्दस्त हुई। राष्ट्रीयता की उमंग आई। गुप्त सम्राटों का उत्थान हुआ। समाज की नई व्यवस्था हुई। विदेशी शत्रु और विदेशी रंग-ढंग सावधानी से उखाड़ कर फेंक दिये गये। और साथ ही साथ विदेशियो को आश्रय देने वाले धर्म के प्रति भी जबर्दस्त प्रतिक्रिया हुई। जब सब कुछ हिल गया, जब सब कुछ नवीन जोश के लपेट मे आ गया तब भी जो साधना की ज्योति अपने पूर्व रूप मे ही उसी तेजस्विता के साथ जलती रही, उस अखण्ड प्राणमयी ज्योति को मैं नमस्कार करता हूं।

भगवान् महावीर के निर्वाण की दूसरी शताब्दी मे जब मगध मे घोर अकाल पड़ा था, उस समय अन्नाभाव के कारण लोग बुरी तरह व्याकुल हो गये थे, और आचार्य भद्रबाहु भी अपने बहुत से शिष्यों सहित कर्णाट देश मे चले गये थे। जो लोग मगध मे रह गये थे, उनके नेता आचार्य स्थूलभद्र हुए। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ग्रंथ बताते है कि महावीर स्वामी ने जो उपदेश दिया था उसे उन के दो प्रधान शिष्यों, इन्द्र-भूति और सुधर्मा ने, जो गणधर कहलाते थे, व्यवस्थित और संकलित करने का कार्य किया। यह सकलन बारह अंगों मे विभक्त होने के कारण 'द्वादशांगी' कहलाता है। जब मगध के बारह वर्ष वाले अकाल के समय आचार्य

भद्रबाहु अपने कई सुयोग्य शिष्यों सहित बाहर चले गये तो मगध मे बच रहे शिष्यों और आचार्य स्थूलभद्र को द्वादशांगी के लुप्त हो जाने का डर हुआ। इसलिये उन्होने महावीर-निर्वाण के १६० वर्ष बाद पाटलीपुत्र मे श्रमण-संघ की सभा बुलाई। वहाँ सब के सहयोग से संप्रदाय के मान्य तत्वों का ग्यारह अंगो मे संकलन किया गया। यह संग्रह 'पाटलीपुत्र-वाचना' कहलाता है। १२ वे अङ्ग दिट्ठि-वाय के १४ भागो मे से, जिन्हे पुव्व या 'पूर्व' कहते थे, अन्तिम चार पूर्व नष्ट हो चुके थे। फिर भी जो कुछ याद था, उसे संग्रह कर लिया गया।

वर्षों बाद जब आचार्य भद्रबाहु लौटे तो उन्होने देखा कि उन के साथ इस दल का बडा मत-भेद है। जो लोग मगध मे रह गये थे वे वस्त्र पहनने लगे, परन्तु भद्रबाहु और उनके शिष्य कड़ाई के साथ पूर्ववर्ती नियमों का ही पालन करते रहे। जान पड़ता है, यहाँ से जैन धर्म के दो प्रधान संप्रदाय श्वेताम्बर और दिगंबर हमेशा के लिये अलग हो गये। भद्रबाहु और उनके शिष्य दिगंबर कहलाये और स्थूलभद्र और उनके शिष्य श्वेताम्बर। फल यह हुआ कि दिगंबरों ने 'पाटलीपुत्र-वाचना' के संकलनों को अस्वीकार कर दिया और कह दिया कि असली 'अङ्ग-पूर्व' तो लुप्त हो गये हैं।

समय बीतता गया और यद्यपि जैन धर्म नाना उत्थान-प्रत्युत्थान के भीतर से गुजरता रहा, परन्तु जैन शास्त्रों की सुव्यवस्थितता बनी नहीं रही। ऐसा जान पडता है कि कुछ ही दिनों मे उन मे ऐसी अव्यवस्था आ गई कि आचार्यों को फिर से उक्त संकलन की सुव्यवस्था की सोचनी पडी। महावीर-निर्वाण की छठी शताब्दी मे आर्य स्कंदिल के नेतृत्व मे फिर एक बार श्वेताम्बर आचार्यों की सभा हुई। यह सभा मथुरा मे हुई थी। इस द्वितीय उद्धार के प्रयत्न को 'माथुरी वाचना' कहते हैं। यह हमारा दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिये कि इस दूसरी बार के प्रयत्न मे भी आगे चल कर कुछ शैथिल्य अनुभव किया जाने लगा। महावीर-निर्वाण की दसवीं शताब्दी के आसपास, आज से लगभग डेढ़ हजार वर्ष पहले काठियावाड़ की वलम्भी नगरी मे तीसरी सभा बुलाई गई। इसके नेता देवर्धि गणि थे। यही उन दिनों संप्रदाय के गणधर थे। इस सभा मे फिर से ग्यारह अंगों का संकलन हुआ। बारहवा अंग 'दृष्टिवाद' तो इसके पहले ही लुप्त हो चुका था। आजकल के उपलब्ध अंग इस अन्तिम बार के ही प्रयत्न कहे जाते है।

इस प्रकार जमाने के आघात ने जब जब जैन शास्त्रों को लुप्त होने की ओर ढकेल दिया, तब तब अध्यवसायी धर्म-प्रेमी आचार्यों ने उन्हें बचा लेने की कोशिश की। बौद्ध लोगों

के धर्म-शास्त्रों के विषय मे भी ऐसी सभाओं या संगीतियों की चर्चा मिलती है। पहले जो कुछ कहा गया है, उससे काफी स्पष्ट हो जाता है कि अंगों का वर्तमान आकार आज से लगभग डेढ हजार वर्ष पहले का संगृहीत है और इसीलिये निश्चय ही महावीर स्वामी के बहुत बहुत बाद का है। खूब संभव है कि इन शास्त्रो मे भी ऐसी बहुत सी बातें मिल गई हों जो महावीर स्वामी के बाद की हों जैसा कि हम बौद्ध संगीतियों के संकलनों मे कभी कभी पाते हैं। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इन मे प्राचीन अंश हैं ही नहीं। सही बात यह है कि संग्रह और संकलन जब कभी भी क्यों न हुआ हो, उसमे निश्चय इस बात का ही अधिक प्रयत्न किया गया होगा कि प्राचीन अंश सुरक्षित रखे जाय, यह नहीं कि नई बातें मिलाई जाय। इसलिये जो बात निस्संदेह कही जा सकती है, वह यह है कि इन अङ्गों मे प्राचीन अंश काफी अधिक मात्रा मे है। यद्यपि अङ्ग-ग्रंथों की भीतरी गवाही के बल पर पंडितों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि इन मे के बहुत से स्पष्ट ही महावीर स्वामी के बाद के आचार्यों के लिखे हुए है। यह ध्यान देने की बात है कि आर्य सुधर्म, आर्य श्याम और भद्रबाहु आदि महावीर स्वामी के परवर्ती अनेक आचार्य अङ्गों और उपागों के रचयिता माने जाते हैं।

बारह अङ्ग, बारह उपांग, दस प्रकीर्णक, छ छेदसूत्र, चार मूलसूत्र और दो अन्य ग्रंथ—नंदि सूत्र (नंदि सुत्त) और अनुयोग द्वार (अणुयोगद्दार) इन समस्त सिद्धान्त ग्रंथों में जैन मत का स्थापन और विरुद्ध मत का खण्डन और जैन परम्परा की कहानियां विवृत है। इन में कितने ही न केवल अत्यन्त प्राचीनता के चिन्ह लिये हुए हैं बल्कि प्राचीनतम भारतीय विज्ञान के समझने के अद्वितीय साधन हैं। बारह उपांगों में से दो सूर्य-प्रज्ञप्ति और चन्द्र-प्रज्ञप्ति (जो वस्तुत मिलती-जुलती पुस्तकें हैं) संसार के ज्योतिषिक साहित्य में अपने विचित्र और अनन्य साधारण सिद्धान्त के लिये काफी महत्त्व-पूर्ण है। इन के अनुसार आकाश में दीखने वाले ज्योतिष्क पिण्ड दो दो हैं। अर्थात् दो सूर्य हैं, दो चंद्र हैं, दो-दो सभी नक्षत्र। गणना की दृष्टि से इनके साथ एक मात्र तुलनीय ग्रंथ लागध मुनि का 'वेदांग ज्योतिष' है। ये सन् ईसवी के पूर्व की भारतीय ज्योतिषिक चिन्ताओं के अपूर्व निदर्शक हैं। सब मिला कर जैन-सिद्धान्त ग्रथों में बहुत सी ज्ञातव्य और महत्वपूर्ण सामग्री बिखरी पडी है।

अभी तक मैं जो बातें कहता रहा, वह श्वेताम्बर संप्रदाय द्वारा मान्य समझे जाने वाले सिद्धान्त-ग्रंथों की रही। दिगम्बर-परम्परा और तरह की है। उन के मत से भगवान् महावीर की दिव्यवाणी को अवधारण कर के उनके प्रथम शिष्य

इन्द्रभूति (गौतम) गणधर ने अङ्ग-पूर्वों की रचना की थी। उन्होंने अपने साधर्मी सुधर्मा (लोहार्य) को और उन्होंने जंबू स्वामी को दिया। जंबूस्वामी से अन्य मुनियों ने उसे सीखा। यह सब कुछ महावीर स्वामी के जीवन-काल मे ही हुआ। इसके बाद पाँच श्रुतकेवलियों का आविर्भाव हुआ। वे है—विष्णु, नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु। इन्हें सभी अङ्ग-उपांगों का पूर्ण ज्ञान था। महावीर-निर्वाण के छ वर्ष बाद तक जंबूस्वामी का और उनके सौ वर्ष बाद तक भद्रबाहु का समय है। अर्थात् इस दूसरी परम्परा के अनुसार वीर-निर्वाण के १६२ वर्ष बाद तक अङ्ग और पूर्वों का अस्तित्व नि सदिग्ध था। इस के बाद वे क्रमश. लुप्त होते गये और महावीर-निर्वाण के ६८३ वर्ष बाद तो वे इस प्रकार से सर्वथा ही लुप्त हो गये। अन्तिम अङ्गधारी लोहार्य (द्वितीय) बताये जाते है जिन्हे सिर्फ एक आचाराग का ही ज्ञान था।

इस के बाद अङ्ग और पूर्वों के एक देश के और एक देश के भी एक अंश के ज्ञाता आचार्य हुए। इन मे धरसेनाचार्य जो सौराष्ट्र के निवासी थे, विशेष उल्लेख्य हैं। कहते हैं, इन्हे अग्रायणी पूर्व के पंचम वस्तुगत महाप्राभृत का ज्ञान था। इन्होंने अपने अन्तिम काल मे आन्ध्र देश से भूतबलि और पुष्पदन्त नामक दो शिष्यों को बुला कर पढाया और तब

इन शिष्यों ने लगभग विक्रम की दूसरी शताब्दी में षट् खण्डागम तथा कषाय प्राभृत सिद्धान्तों की रचना की। ये सिद्धान्त-ग्रंथ बड़ी विशाल टीकाओं के सहित अब तक सिर्फ कर्णाटक के मूडबिद्री नामक स्थान में सुरक्षित थे, अन्यत्र कहीं नहीं थे। कुछ ही समय हुआ इन में से दो टीका ग्रन्थ धवला और जय-धवला बाहर आये हैं और उन में से एक वीरसेनाचार्य कृत धवला टीका का प्रकाशन आरम्भ हो गया है। इस टीका के निर्माण का समय शक संवत ७३८ है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप-पण्णत्ति को उपाग माना है, और दिगम्बरों ने इन की दृष्टिवाद के पहले भेद परिकर्म में गणना की है। इसी तरह श्वेताम्बरों के अनुसार जो सामायिक, सस्तव, वन्दना और प्रतिक्रमण दूसरे मूलसूत्र आवश्यक के अंश विशेष हैं, उन्हें दिगम्बरों ने अङ्ग-बाह्य के चौदह भेदों में गिनाया है। दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार और निशीथ नामक ग्रंथ भी अङ्ग-बाह्य हैं। अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य भेद श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी माने गये हैं और उपांग एक तरह से अङ्गबाह्य ही हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय में उपाग-भेद का उल्लेख नहीं है।

परन्तु उक्त अङ्ग और अङ्गबाह्य ग्रंथों के दिगम्बर संप्रदाय में सिर्फ नाम ही नाम हैं, इन नामों के कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। उनका कहना है कि वे सब नष्ट हो चुके हैं।

दिगम्बरों ने एक दूसरे ढंग से भी समस्त जैन साहित्य का वर्गीकरण कर के उसे चार भागों मे विभक्त किया है:— (१) प्रथमानुयोग जिसमे पुराण पुरुषों के चरित्र और कथा-ग्रंथ हैं:—जैसे, पद्मपुराण, हरिवंश पुराण, त्रिषष्ठिलक्षण महा-पुराण (आदि पुराण और उत्तर पुराण)। (२) करणानुयोग, जिसमे भूगोल-खगोल का, चारों गतियों का और काल-विभाग का वर्णन है—जैसे, त्रिलोक-प्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार, जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति, सूर्य-चन्द्र-प्रज्ञप्ति आदि। (३) द्रव्यानुयोग जिसमे जीव अजीव आदि तत्त्वों का, पुण्य-पाप, बन्धन-मोक्ष का वर्णन है, जैसे कुन्दकुन्दाचार्य के समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, उमास्वातिकाय तत्वार्थागम आदि। (४) चर-णानुयोग जिसमे मुनियों और श्रावकों के आचार का वर्णन हो, जैसे वट्टकेरका मूलाचार, आशाधर का सागार-अनागार धर्मामृत, समन्तभद्र का रत्नकरण्ड श्रावकाचार आदि। इन चार अनुयोगों को वेद भी कहा गया है।

सिद्धान्तोत्तर साहित्य

देवर्धिगणि के सिद्धान्त-ग्रन्थ-संकलन के पहले से ही जैन आचार्यों के ग्रन्थ लिखने का प्रमाण पाया जाता है। सिद्धांत-ग्रन्थों में कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिन्हे निश्चित रूप से किसी आचार्य की कृति कहा जा सकता है। बाद में तो ऐसे ग्रन्थों

की भरमार हो गयी। साधारणत. ये ग्रन्थ जैन प्राकृत मे लिखे जाते रहे, पर संस्कृत भाषा ने भी सन् ईसवी के बाद प्रवेश पाया। कई जैन आचार्यों ने संस्कृत भाषा पर भी अधिकार कर लिया, फिर भी प्राकृत और अपभ्रंश को त्यागा नहीं गया। संस्कृत को भी लोक-सुलभ बनाने की चेष्टा की गई। यह पहले ही बताया गया है कि भद्रबाहु महावीर स्वामी के निर्वाण की दूसरी शताब्दी मे वर्त्तमान थे। कल्प-सूत्र उन्हीं का लिखा हुआ कहा जाता है। दिगम्बर लोग एक और भद्रबाहु की चर्चा करते है जो सन् ईसवी से बारह वर्ष पहले हुए थे। यह कहना कठिन है कि कल्पसूत्र किस भद्रबाहु की रचना है। कुन्दकुन्द ने प्राकृत में ही ग्रन्थ लिखे हैं। इन के सिवाय उमास्वामी या उमास्वाति, वट्टकेर, सिद्धसेन दिवाकर, विमल सूरि, पालित्त आदि आचार्य सन् ईसवी के कुछ आगे-पीछे उत्पन्न हुए, जिन मे से कई दोनों सम्प्रदायों में समान भाव से आहत हैं। पांचवीं शताब्दी के बाद एक प्रसिद्ध दार्शनिक और वैयाकरण हुए जिन्हें देवनन्दि (पूज्यपाद) कहते है। सातवीं-आठवीं शताब्दी भारतीय दर्शन के इतिहास मे अपनी उज्ज्वल आभा छोड़ गई। प्रसिद्ध मीमासक कुमारिल भट्ट का जन्म इन्हीं शताब्दियों में हुआ, जिन्होंने बौद्धों और जैन आचार्यों (विशेषकर समन्तभद्र और अकलंक) पर कटु आक्रमण किया तथा बदले मे जैन

आचार्यों (विशेषरूप से प्रभाचन्द्र और विद्यानन्द) द्वारा प्रत्याक्रमण पाया। इन्हीं शताब्दियों में सुप्रसिद्ध आचार्य शङ्करस्वामी हुए जिन्होंने अद्वैत वेदान्त की प्रतिष्ठा की। इस शताब्दी में सर्वाधिक प्रतिभाशाली जैन आचार्य हरिभद्र हुए जो ब्राह्मण वंश मे उत्पन्न हो कर समस्त ब्राह्मण शास्त्रों के अध्ययन के बाद जैन हुए थे। इन के लिखे हुए ८८ ग्रंथ प्राप्त हुए हैं जिनमे बहुत से छप चुके है।

बारहवीं शताब्दी मे प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होंने दर्शन, व्याकरण और काव्य तीनों मे समान भाव से कलम चलाई। इन नाना विषयों मे, नाना भाषाओं में और नाना मतों में अगाध पाण्डित्य प्राप्त करने के कारण इन्हें शिष्य-मण्डली 'कलिकाल सर्वज्ञ' कहा करती थी। नि.सन्देह वे इस पदवी के अधिकारी भी थे। इस शताब्दी मे और इसके बाद भी जैन ग्रन्थों और टीकाओं की बाढ़-सी आ गई। इन दिनों की लिखी हुई सिद्धात-ग्रंथों की अनेक टीकाएँ बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। असल मे यह युग ही टीका का था; भारतीय मनीषा सर्वत्र 'टीका मे व्यस्त थी। मूल ग्रंथों की टीकायें, उनकी भी टीकायें—इस प्रकार कभी कभी यह टीका-परम्परा छ-छ, आठ-आठ पुश्त तक चला करती थी। लेकिन ये टीकायें सर्वत्र चिन्तन की परतंत्रता की द्योतक नहीं थीं। कभी कभी तो ये स्वतत्र ग्रंथ ही हुआ करती थीं। शुरू

शुरू मे तो यह बात और भी सच थी। प्राचीन ग्रंथो को उन से जोड़ रखने का उद्देश्य यही हुआ करता था कि उन को आर्य-सम्मत सिद्ध किया जा सके।

मैं यहां जैन आचार्यों के लिखे विविध पुराण-ग्रंथ और नाना प्रकार के आख्यान-ग्रन्थों की सूचि गिना कर आप का समय नष्ट नहीं करना चाहता, यद्यपि भारतीय कथा-साहित्य का विद्यार्थी इन ग्रन्थो मे काफी रस पा सकता है। विमल-सूरि का पद्म-चरित नामक प्राकृत ग्रन्थ, जिस मे रामायण की कथा जैन परम्परा के अनुसार वर्णित है, बहुत ही मनोरंजक ग्रंथ है। इसी प्रकार का एक ग्रन्थ सातवीं शताब्दी मे रविषेण ने लिखा था जो प्राय विमलसूरि के ग्रन्थ का ही संस्कृत रूपान्तर-सा है। ऐसी कथायें गुणभद्र के उत्तरपुराण मे और हेमचन्द्राचार्य के 'त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित' मे भी आई है। अन्तिम कथा जैन रामायण के नाम से प्रसिद्धि पा सकी है।

परन्तु इन कथा-आख्यायिकाओ के प्रसंग मे जैन ऐतिहासिक प्रबन्धों की चर्चा न करूं तो मैं भारतीय साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण अंग की उपेक्षा करने का दोप-भागी हूंगा। चन्द्रप्रभ सूरि का प्रभावक चरित, मेरुतुंग का प्रबन्ध चिंतामणि, राजशेखर का प्रबन्ध कोप, जिनप्रभ सूरि का तीर्थकल्प इत्यादि रचनाये नाना दृष्टियों से बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इन में

से कई एक को अति परिश्रम और सावधानी के साथ हाल ही मे मुनि श्री जिनविजयजी ने सम्पादित किया है। उनकी इस सम्पादित ग्रन्थमाला ने निश्चित रूप से भारतीय विद्वत्ता का सम्मान बढ़ाया है।

इसी सिलसिले मे जैन मुनियों की लिखी हुई कहानियों की पुस्तकों का नाम भी लिया जा सकता है। पालित्तसूरि की 'तरंगवती' कथा काफी प्राचीन पुस्तक है। हरिभद्र का प्राकृत काव्य 'समराइच्च' भी एक धार्मिक कथा-काव्य है। धनपाल का अपभ्रंश काव्य 'भविसयत्त' भी काफी मनोरंजक और महत्त्वपूर्ण काव्य है। ऐसी और भी अनेक कहानिया है जो बहुत कुछ साम्प्रदायिक कट्टरता से परे है। और वे पुस्तकें निश्चित रूप से जैन ग्रन्थों पर लगाये गये दो दोषो का क्षालन कर सकती हैं। ये दो दोष है—शुष्कता और मानव-रस (human interest) का अभाव। जैन आचार्यों ने कथाओं का एक विशाल साहित्य निर्माण किया है जो नाना दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इन से जन-साधारण की मनोवृत्ति के अध्ययनेच्छुक विद्यार्थी को तो मदद मिलेगी ही पर वे लोग भी बहुत आनन्द पायेंगे जो मानव-रस के प्यासे हैं। इन के सिवाय जैन आचार्यों ने नाटक, चम्पू आदि काव्य के भिन्न-भिन्न क्षेत्र मे असंख्य ग्रन्थ लिखे हैं, जिन मे बहुत कम छपे है, और जो छपे है उन मे भी बहुत

ही कम ऐसे हैं जिन्हें सुसम्पादित कहा जा सके। इन ग्रंथों मे ऐतिहासिक अध्ययन की सामग्री बिखरी पड़ी है। दुर्भाग्य-वश अब भी भारतीय इतिहास के निर्माण मे इन ग्रन्थों की सहायता बहुत कम ली गई है। इस क्षेत्र मे आदरणीय मुनि श्री विजयेन्द्रसूरि जैसे पंडित महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। इस वृद्धावस्था मे भी मुनि जी जिस लगन और परिश्रम से इस क्षेत्र मे डटे हुए हैं, वह अनुकरणीय है।

जैन आचार्यों की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देन उनका दार्श-निक साहित्य है। यह मानी हुई बात है कि इन पंडितो ने न्याय शास्त्र को पूर्णता तक पहुचाने मे बहुत बड़ा कार्य किया है। इन मे सब से प्राचीन आचार्य, जो दोनों सम्प्रदायो मे समान भाव से समादृत है, समन्तभद्र और सिद्धसेन है। कुंद-कुंद, अमृत चंद्र, कार्तिकेय स्वामी, उमास्वाति, देवनंदि, अकलंक प्रभाचंद्र आदि दिगम्बर पंडितो ने और हरिभद्र मल्लवादी, मल्लि-षेण, वादिदेव सूरी, अभयदेव, हेमचंद्र, यशोविजय आदि श्वेताम्बर आचार्यों ने भारतीय चिन्ता को बहुत अधिक समृद्ध किया है। हाल ही मे सुप्रसिद्ध विद्वान् आदरणीय पं० सुखलालजी ने 'प्रमाण-मीमांसा' नामक हेमचंद्राचार्य के ग्रंथ का अत्यन्त पाडित्यपूर्ण ढंग से सम्पादन किया है। मुनि जिनविजयजी ने ठीक ही कहा है कि 'इस प्रकार सुसंपादित हो कर हिंदी मे शायद ही कोई दार्शनिक ग्रंथ निकला हो।'

बम्बई से मेरे मित्र पं० जगदीशचंद्रजी जैन ने स्याद्वाद-मंजरी का बहुत उत्तम हिंदी अनुवाद निकाला है। इस प्रकार और भी बहुत से प्रयत्न हो रहे हैं।

विशाल जैन साहित्य का घंटे आध घंटे मे परिचय कराना बड़ा दुस्तर व्यापार है। जैन आचार्यों ने उल्लेख योग्य ऐसा कोई साहित्याग नहीं छोड़ा है जिसमे अनेकों पुस्तके न लिखी हो। क्या काव्य, क्या नाटक, क्या ज्योतिष, क्या आयुर्वेद, क्या कोष, क्या अलंकार, क्या गणित, क्या राजनीति, सभी विषयो पर मुनियो ने अधिकारपूर्वक कलम चलाई है। यह एक अद्भुत विरोधाभास-सा सुनाई देगा कि धर्म के मामले मे समझौते को बिल्कुल ही अस्वीकार करनेवाले, साम्प्रदायिक सिद्धान्तों मे तिल भर भी झुकने को राजी न होने वाले जैन आचार्य गण शास्त्रीय मामले मे अत्यन्त उदार रहे हैं। ऐसा प्रायः नहीं देखा गया है कि ब्राह्मणादि सम्प्रदाय के लोग जैन आचार्यों की पुस्तको पर टीका लिखते हों, पर ऐसा प्राय ही देखा गया है कि जैन पंडितो ने ब्राह्मणादि, बौद्धादि ग्रंथकारों की पुस्तकों पर अत्यन्त परिश्रम और योग्यता पूर्वक टीकायें लिखी हैं। कट्टरता और उदारता का यह विचित्र योग है। इस कट्टरता और उदारता के अपूर्व योग ने ही जैन साहित्य को अत्यधिक जटिल और विचित्र बना दिया है। जैन आचार्य गण

साहित्यिक क्षेत्र में बौद्धों की अपेक्षा बहुत अधिक असाम्प्रदा-यिक रहे हैं।

पर जैन पंडितों की सब से बड़ी देन है—उनका लोक-भाषा पर दृढता पूर्वक जमे रहना। यह जैन आचार्यों की ही कृपा का फल है कि अपभ्रंश भाषा के काव्य और व्याकरण अभी तक उपलब्ध है। जैन पंडित वर्तमान भाषाओं में से हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी, तेलगु, तामिल और विशेष रूप से कन्नड या कनाडी साहित्य के आदिकाल के निर्माताओ में से हैं। कनाड़ी साहित्य मे तो ईसा की तेरहवीं शताब्दी तक इन्हीं लोग का एकाधिपत्य रहा है। कहते हैं कि कनाड़ी के समस्त उपलब्ध साहित्य का प्राय: दो-तिहाई हिस्सा जैन विद्वानों के रचे साहित्य का है।

इस प्रकार नाना दृष्टियों से जैन साहित्य बहुत ही महत्त्व-पूर्ण है। वह भारतीय साहित्य के आदिकाल से ले कर अब तक कभी प्रत्यक्ष रूप से और कभी अप्रत्यक्ष रूप-से भारतीय जीवन, साधना और साहित्य को प्रभावित करता रहा है और निसंदेह भविष्य मे भी करता रहेगा।

देवियो और सज्जनो, ग्रंथों और ग्रंथकारों के नामों के इस शुष्क बीहड़ मे बड़ी देर तक मैंने आपको भटका रखा। मैं जैन साहित्य के मर्मस्थल तक आप को ले जाने मे असमर्थ रहा, इसके लिये मैं क्षमा मागता हू। मेरे लिये इस अल्प काल

मे ऐसा करना संभव नहीं था। परन्तु विदा लेते लेते मैं आप को याद दिला देना चाहता हूं कि जैन साधना और जैन साहित्य की अखण्ड जीवन-शक्ति के मूल मे जो रहस्य है, वह उसकी सैद्धान्तिक दृढ़ता है। जैन विद्वान् सिद्धान्त के आगे कभी झुकने को राजी नहीं हुए, उन्होंने परिस्थितियों और सुयोग या दुर्योग से कभी सुलह नहीं की। अपने संयम, त्याग, नियम और कठोर व्रत पर वे पहाड़ की भाँति अटल खड़े रहे, उन्होने कभी समझौता करने की नहीं सोची। कष्ट आये और उन्होने उन्हें झेल लिया, दुर्दिन आये और उन्होंने उनका मुकाबला किया पर कभी भी इन से दे-लेकर निवटने की कोशिश उन्होंने नहीं की। यही कारण है कि यद्यपि वे देश-देशान्तर मे नहीं फैल सके, पर काल से कालान्तर तक अपने प्रायः मूल रूप मे ही वे जरूर फैल सके। जैन शास्त्रों मे जो शुष्कता दीखती है, वह उसी अनमनीय सिद्धान्त-प्रेम के कारण है। मानव-रस की कमी उन मे इसलिये है कि वे इस बात मे विश्वास करते थे कि मनुष्य-दुर्बलता के प्रति सहानुभूति दिखाना उस को शह देने के समान है। उन्होंने व्रत और नियम को मनुष्य से ऊपर माना। ऐसा मानना ठीक हो सकता है, नहीं भी; पर हमारे आज के विचारणीय विषय के लिये वह निश्चित रूप से उसकी अखंड जीवनी शक्ति का कारण है। हजारों वर्ष के इस सुदीर्घ जीवन में

अपने निजत्व की रक्षा करते हुए जीवित रहना जैन धर्म और साहित्य की अपनी विशेषता है।

कलिकाल-सर्वज्ञ आचार्य हेमचंद्र ने एक श्लोक मे अपने निज के और समस्त जैन सम्प्रदाय के औदार्य का बहुत ही सुन्दर परिचय दिया है। इस मे एक ही साथ हृदय की विशालता और सिद्धान्त की दृढ़ता प्रकट हुई है। आचार्य ने कहा है कि स्थान और काल को ले कर हमे सिर नहीं मारना है, नाम को ले कर झगडा नहीं करना है। हम तो मानते है, जो दोष और कलुष से अतीत है, जिसके भव-बीज के अङ्कुर से उत्पन्न रागादिक क्षयप्राप्त हो गये हैं, वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शिव हो—कुछ भी नाम क्यों न हो, वही हमारा भगवान है, हम उसके सामने सिर नवाते हैं। आप से विदा लेते समय आचार्य की इस सहृदय उदार वाणी से अधिक प्रभावशाली कोई बात मुझे नहीं सूझती—

यत्र तत्र समये यथा तथा
योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया।
वीतदोषकलुष स चेद् भवान्
एक एव भगवन्नमोऽस्तुते ॥

भवबीजांकुरजनना रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा महेश्वरो वा नमस्तस्मै ॥

विश्व-विप्लव और अहिंसा

[*वक्ता—श्री काका कालेलकर, वर्धा*]

अमेरिका में प्रेअरिज नामक घास के बड़े बड़े खेत होते हैं। ऊँचा ऊँचा घास बड़े बड़े जानवरों को भी ढक देता है। मीलों तक घास ही घास होता है। ऐसे स्थान में मुसाफरी करना आसान नहीं है। कब कोई शेर या दूसरा जानवर सामने मिल जाएगा, यह कहना मुश्किल होता है। हमेशा सतर्क होकर चलना पड़ता है।

लेकिन ऐसे घास के जंगलों में असली खतरा तो आग का है। कहीं दूर भी आग लगी, तो उसकी ज्वालाओं के

नजदीक आने मे देरी नहीं लगती है। और आदमी भागे भी, तो किस तरफ और किस तरह भागे? घास में से रास्ता निकालना कठिन होता है। और जब हवा चलती है, तब तो ज्वालाएँ चाहे जिस दिशा मे फैलने लगती है।

ऐसी हालत में बचने का एक ही उपाय रहता है। जहाँ कहीं आदमी खड़े हों, वहीं पर वे घास उखाड़ना या काटना शुरू कर दें और अपने आसपास जितनी हो सके अधिक से अधिक जगह खुली कर दें। जहाँ घास है, वहाँ पर आग का डर है। जहाँ घास है ही नहीं, वहाँ आने ही आग आप ही आप शान्त हो जाती है। 'अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति'।

आज विश्व-व्यापी युद्ध की ज्वालाएँ हमारे नजदीक आने लगी हैं। रोज सुबह उठ कर यही देखना पड़ता है कि आज कौन-सा देश युद्ध मे शरीक हुआ है—आज कहाँ पर नई ज्वालाएँ सुलगी हैं।

पुराने युद्ध स्थानिक होते थे। दो देशों की फौजें आपस मे कुछ दिनों के लिये लड़ीं, कुछ फैसला हो गया और फिर से शान्ति स्थापित हो गयी; सारी मनुष्यजाति युद्ध के दावानल मे नहीं फँसती थी। पुराने युद्ध किसी राजा के कीर्ति-लोभ या जमीन-लोभ के कारण होते थे। अब के युद्ध विश्वव्यापी आर्थिक संगठन के हैं—महाजातियों को स्वा

जाने वाले हैं। और उनके पीछे मनुष्य संगठन के सिद्धान्त-भेद का भी ख्याल रहता है। रशिया को न केवल राज्य-तृष्णा है किन्तु साम्यवाद का भी दुनिया मे प्रचार करना है। जर्मनी की विजय होने से उसे अपने ढंग का राज्य चलाना है। और अंग्रेजों को अपनी जमायी हुई राज्य-पद्धति रखनी है।

इङ्गलंड और अमेरिका प्रजा-सत्ता की दुहाई देते हैं। जर्मनी की राज्य-पद्धति कैसी है, उसको दूर से देख कर ही हम समझ गये है। रशिया के साम्यवाद मे व्यक्ति-स्वातंत्र्य का क्या होगा, यह भी हम जानते हैं। अगर भारत-वासी को हृदय से पूछा जाय तो वह कहेगा कि हमारा इन तीनों मे से किसी से भी सम्बन्ध न हो तो भगवान की कृपा। इन तीनों की राज्य-पद्धति में युद्ध तो ध्रुव ही है। जिस तरह हरएक उपन्यास के अन्त मे नायक-नायिका की शादी आवश्यम्भावी है, इसी तरह हरएक राष्ट्र की प्रगति की पद्धति के पीछे युद्ध आ ही जाता है। प्रगति के फल स्वरूप युद्ध अनिवार्य हो गया है। और हम तो पाशवी युद्ध से बचने का तरीका ढूढ रहे हैं।

आज की दुनिया की हालत जरा ध्यान से देखें।

जितने ख्रिस्ती राष्ट्र कहलाते है, वे सब के सब लड़ रहे हैं। चीन और जापान अगर बौद्ध राष्ट्र गिने जायें तो वे

भी आपस मे लड़ रहे हैं। इस्लामी और हिन्दू राष्ट्र अभी तक युद्ध से अलिप्त हैं। और धर्म मात्र का विरोधी, साम्यवादी रशिया अपना मौका ताक रहा है।

अमेरिका की तैयारी है। रशिया तैयार है। मुसलमान राष्ट्र कुछ दूरदृष्टि से आज तक अलिप्त रहे हैं। किन्तु रशिया उन्हें युद्ध मे खींचे विना नहीं रहेगा। सरकारी तौर पर हिन्दुस्तान युद्ध्यमान होते हुए भी राष्ट्रीय भारत युद्ध से अलिप्त है और उसकी अलिप्तता अन्य सब राष्ट्रों की अपेक्षा कुछ विशेष है। उसने विचार पूर्वक तत्त्वनिष्ठ होकर युद्ध टालने का निश्चय किया है। सारी दुनिया मे हिन्दुस्तान की यह भूमिका अलौकिक है। लेकिन दुर्बल हिन्दू और मुसलमान आपस मे लड़ कर अहिंसा का राष्ट्रीय पुण्य खाक मे मिला देते हैं। इसमे साधारणतया हिन्दू कह सकते हैं और वे कहते भी हैं कि "हम कहाँ लड़ने जाते हैं? हम तो सिर्फ हम पर जो नाजायज हमला होता है, उसका स्वाभाविक प्रतिकार करते हैं।"

उद्देश्य कुछ भी हो, परिणाम एक ही है। लड़ने की वृत्ति का रोग सर्वत्र फैल रहा है, सर्वत्र युद्ध मच रहा है।

ऐसे जगत मे अहिंसा पर श्रद्धा की अविचल मंगल-दृष्टि रख कर राष्ट्र को कल्याण का मार्ग दिखाते रहना धर्मावतार का ही काम है। आज तक जितने अवतार हुए, उन्होंने अहिंसा को इतनी सूक्ष्मता से नहीं पहचाना था और इतनी

दृढ़ता से जीवन के अंगोपांगों में उसका विनियोग भी नहीं बताया था। अखिल मनुष्यजाति का ध्यान इसके पहले अहिंसा की ओर इतना खींचा भी नहीं गया था। दुनिया की श्रद्धा अहिंसा पर आज भले ही न बैठे, और हरएक राष्ट्र की महाप्रजा भले ही हिंसामूर्ति बन गयी हो, लेकिन दुनिया में आज एक भी आदमी ऐसा नहीं रहा है जो हिंसा को कल्याणकारी समझता हो। हिंसा अपरिहार्य है, हिंसा के बिना हम बच नहीं सकते है, ऐसी ही पुकार सब तरफ से सुनी जाती है। और हरएक राष्ट्र कहता है कि युद्ध हम पर लादा गया है। हम तो शांति से ही रहना चाहते थे, किन्तु हमारे दुश्मन हमें वैसा नहीं करने देते हैं। आज का विश्व-विजय भी आत्मरक्षा का ही एक रूप है।

ऐसी दुनिया में अकेले गांधीजी ही यह श्रद्धा धारण किये हुए हैं कि एक समूचा राष्ट्र अहिंसा का स्वीकार कर सकता है, पालन कर सकता है। और अन्य राष्ट्रों के नेता इस श्रद्धा से चल रहे हैं कि युद्ध का जोश मनुष्य मात्र में पैदा किया जा सकता है।

अब सवाल इतना ही है कि क्या गांधीजी की श्रद्धा का स्वीकार कर यह देश युद्ध से मुक्त रहने की कोशिश करेगा—अहिंसा का वीर्य दिखायेगा? अगर गांधीजी की अहिंसा का बीज राष्ट्र के हृदय में बोया गया है तो राष्ट्र के काफी लोगों

में उसका जीवित संचार दीख पड़ना चाहिये। हिंसक युद्ध की तैयारी से अहिंसक युद्ध की तैयारी कम नहीं होती है। आज अंग्रेज और जर्मन लोग 'प्राणास्त्यक्त्वा धनानि च' लड़ने को तैयार हुए हैं। गाधीजी भी कहते हैं कि जान-माल का मोह सत्याग्रही को छोड़ना ही चाहिये। तपस्वी वैरागी की तरह नहीं, किन्तु निर्भय वीर की तरह जान और माल की परवा हमें छोड़नी चाहिये। हिटलर और चर्चिल अपने अपने राष्ट्र को कहते हैं कि सर्वस्व का नाश हुआ तो भी बेहतर, लेकिन अपने राष्ट्र की इज्जत और आजादी के लिये मारते जाओ और मरते जाओ। गाधीजी भी कहते हैं कि "अपना कुछ नहीं है। जो कुछ है, वह जालिमों का है। अपना है सिर्फ अपना हृदय और अपना आत्मतत्त्व। उसी के सहारे आत्मा की रक्षा करो, यानी प्रेमधर्म की रक्षा करो; किसी से डरो नहीं और किसी का नाश करो नहीं। स्वयं निर्भय होकर दुनिया को अभय-दान दे दो।"

एक बात हमे अच्छी तरह से समझनी चाहिये। गाधीजी नहीं लड़ने की बात नहीं करते हैं; युद्ध का त्याग नहीं सिखाते हैं। धर्म-युद्ध आवश्यक है—दोनों पक्षों को पावन करनेवाले है। युद्ध के विना आत्मा जागृत नहीं रह सकता है, आत्मा की रक्षा नहीं हो सकती है। लेकिन वह युद्ध शुद्ध अहिंसक युद्ध हो; उस में प्रेमधर्म का, अभयदान का तनिक भी

द्रोह नहीं होना चाहिये। हिंसक युद्ध में शत्रु के अधिक से अधिक लोगों को मारना, घायल करना, या युद्ध के लिये नाकाबिल बना देना और अपने लोगों की जान और लड़ायक वृत्ति बचाते रहना, यही मुख्य उद्देश्य होता है। अहिंसक युद्ध मे शान्ति-सेना का हरएक आदमी अपनी जान के लिये बे-परवा होता है और शत्रु का रुधिर गिरा कर अपना पक्ष सबल करना कबूल नहीं करता है। अहिंसक योद्धा शत्रु के सैनिकों को मारता नहीं है, लेकिन उनकी शत्रुता ही नष्ट कर देता है। शत्रु को डरा कर नहीं लेकिन उसे निर्भय करके वह उसकी युद्ध-योग्यता हटा देता है। अगर हम किसी की तलवार को तोड़ते नहीं है लेकिन उसकी तलवार को पारसमणि का स्पर्श कर देते है, तो भी उसके शस्त्र तो हमने छीन ही लिये हैं।

शत्रु हमें मारता है—इसी हेतु से कि हम और हमारे पक्ष के लोग अपने नाश से डरें और और शत्रु की शरण जायँ। सत्याग्रह मे इस बारे मे शत्रु को निराश करने की बात होती है। शत्रु की हिंसा करने की जितनी शक्ति हो, उससे अधिक अगर हमारी बलिदान देने की शक्ति बढ़ गयी, तो हमारी जीत ही है। शत्रु को मारने से या तो उसका जोश बढ़ता है या उसका द्वेष। डरपोक लोगों मे तो हिंसा-वृत्ति सब से अधिक होती है। जहाँ अहिंसक बहादुरी है, वहाँ शत्रु-पक्ष को बढ़ने का कुछ भी सहारा नहीं मिलता है। ऐसे युद्ध मे दुनिया के सामने और अपने

हृदय के सामने हिंसक आदमी तिरस्करणीय जल्लाद ही बन जाता है। और मनुष्य-हृदय को यह स्थिति बिलकुल हजम नहीं होती है।

अगर दुनिया में ईश्वर है, तो गांधीजी के इस अहिंसक युद्ध-धर्म की विजय ही होगी और वह सर्वत्र फैल जायगा।

यहा ईश्वर के माने है निरपवाद, निःस्वार्थ सार्वभौम प्रेम। इस ईश्वर का प्रादुर्भाव तो हुआ है, किन्तु अभी उसका राज्य स्थापित नहीं हुआ है। गाधीजी कहते हैं कि हम ईश्वर का स्वीकार करें और उसके सैनिक बन कर के उसके राज्य की स्थापना करने मे अपना सर्वस्व अर्पण करें।

(२)

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि जब अमेरिका के लोग गांधीजी को अपना सिद्धान्त सुनाने के लिये बुलाते थे, तब गांधीजी वहाँ पर क्यों नहीं गये? अगर गाधीजी अमेरिका में कुछ असर कर के आते तो आज के युद्ध मे उसका लाभ नहीं मिलता? प्रश्न उठना स्वाभाविक है। गांधीजी अमेरिका न गये, उसका भी कुछ रहस्य है। अमेरिका का स्वातंत्र्यवाद और प्रजातंत्रवाद कितना भी सुन्दर हो, उसकी बुनियाद मे सैन्य-शक्ति यानी बाहुबल ही है। अमेरिका का हिंसा पर का विश्वास कम होने के लिये कोई ऐतिहासिक कारण पैदा नहीं हुआ है।

दूसरा एक मुख्य कारण यह है कि अमेरिका सारी दुनिया मे सब से अधिक धनी है। उसके पास जाकर उसे सिखाने का प्रयत्न करना अपनी प्रतिष्ठा को खोना है और उसकी धन-परायणता को अधिक मजबूत करना है। अमेरिका ही एक ऐसा देश है कि जिसके पास जा कर सिखाने से वह सीखने वाला नहीं है। जब वह कभी भी कुछ चमत्कार देखेगा, तब स्वयं ही आकर सीखने की कोशिश करेगा।

जब कभी कोई अमेरिकन गाधीजी को बुलाने आये हैं, तब उन्होंने यही कहा है कि "मुझे अपने देश के द्वारा अहिंसा का चमत्कार सिद्ध करने दो। अमेरिका आप ही आप आकर उसे अच्छी तरह से समझ लेगा।"

जब कभी किसी अमेरिकन ने गाधीजी से पूछा है कि अमेरिका के लिये आप का क्या सदेश है, तब गाधीजी ने अत्यन्त नम्र शब्दों मे अपना वज्रप्राय आत्म-विश्वास इन शब्दो मे प्रकट किया है—"भारत मे हम लोग यह जो बड़ा और अलौकिक प्रयोग कर रहे हैं, उसका ध्यानपूर्वक अध्ययन करने को मैं अमेरिका को कहूगा। अगर इसमे से कुछ मिले तो अमेरिका के लोग अपनी शक्ति के अनुसार उसी चीज को ग्रहण करने और बढाने की कोशिश करें।

जब कभी किसी अमेरिकन ने गांधीजी को पूछा है कि अमेरिका आप की क्या सहायता कर सकता है, तब गांधीजी ने कहा है कि "अमेरिका जैसे देश की मित्रता और महानुभूति की कद्र हम अवश्य करते हैं, लेकिन अमेरिका हमारी सहायता कुछ नहीं कर सकेगा।"

इस पर से सिद्ध होता है कि अमेरिका सिखाने से सीखने वाला नहीं है; वह देख कर ही सीखेगा।

और रशिया? रशिया ने हिंसा के द्वारा ही अन्याय का प्रतीकार किया है, हिंसा के द्वारा ही जनता को स्वतंत्र करने की आशा रखी है। रशिया जब देखेगा कि भारत के लोगों ने अहिंसा के रास्ते एक ऐसा साम्ययोग स्थापित किया है, जो रशिया के साम्यवाद से कहीं अच्छा है, तभी जा कर वह अहिंसा की बातें सुनने को तैयार होगा।

अंग्रेज, जर्मन, फ्रेंच, इटेलियन और जापानी चाहे जितने शक्तिशाली हो, इनके पास कोई भविष्य नहीं है। इन्होंने अपनी शक्ति का अन्त देख लिया है। इनकी जीवन-फिलासफी का प्रयोग हो चुका है। अगर इनकी जीवन-पद्धति में कोई अच्छा तत्त्व रहा हो, तो उसका आगे का प्रयोग इनके हाथों होने वाला नहीं है। इन सबों का उत्तराधिकारी अमेरिका ही है। अमेरिका को भले ही नई दुनिया कहते हो, लेकिन आज वह यूरोप की पुरानी दुनिया की ही प्रतिनिधि है।

अगर भविष्य किसी के पास है तो वह रशिया और हिन्दुस्तान के पास ही है। दोनों में ध्येयवाद है, दोनों में गरीबों के जीवन के प्रति आदर है, दोनों में मनुष्यजाति के उद्धार की लगन है। फरक सिर्फ साधन का ही है। रशिया का विश्वास भौतिक जीवन पर है, भारत का—भारत के सर्वोच्च नेताओं का विश्वास आत्मिक जीवन पर है। इसीलिये रशिया ध्येयवादी और सर्वकल्याणवादी होते हुए भी हिंसा के मार्ग पर विश्वास रखता है और हिन्दुस्तान अहिंसा पर।

अब जो विश्व-विप्लव जगा हुआ है उसका अनिश्चित अन्त हो गया, तो और एक युद्ध, जो भयानक और सर्वनाशी युद्ध होगा, मनुष्यजाति को देखना पड़ेगा। किन्तु अगर यही युद्ध आगे बढ़ा तो इसमे अमेरिका को भी उतरना पड़ेगा और रशिया को भी। ऐसी हालत मे हम कह सकेंगे कि हिंसा के मार्ग का जितना कुछ प्रयोग हो सकता है, मनुष्य-जाति ने कर देखा है। अब तो सिर्फ अहिंसा की ही परख करना बाकी है। अगर इस युद्ध मे अमेरिका और रशिया उतर पड़े तो दुनिया हिंसा-शक्ति का परम उत्कर्ष देखेगी और उसकी व्यर्थता भी समझ जायगी। उसके बाद ही दुनिया को अहिंसा का ख्याल आ जायगा और वह प्रयोग करने को तैयार हो जायगी।

(३)

बुद्ध भगवान ने एक छोटे से वाक्य मे युद्ध-परम्परा का कारण बता दिया है। बुद्ध भगवान् कहते हैं—"जयं वेरं पसवति" और "दुखं सेतं पराजितो"। पिछले युद्ध मे जर्मनी का नाश हुआ और मित्र-राज्यों की विजय हुई, लेकिन दुनिया को शाति नही मिली। अगर मित्र-राज्यों के पास धर्म-राज्य का ही आदर्श था तो धर्म-राज्य की स्थापना के लिये उन्हे काफी समय मिला था। लेकिन ऐसा तो कुछ हुआ नहीं। जर्मनी के मन मे वैर बढ़ता ही गया। सन् १६१८ की संधि के बाद जर्मनी एक भी दिन सुख से सोया नहीं है। 'दुखं सेतं पराजितो'।

और अगर इस युद्ध मे इंगलंड हार भी गया तो भी वह उसकी स्थायी हार थोड़े ही होने वाली है। इंगलंड सवाई-जर्मन होकर तैयारी करेगा और जर्मनी को परास्त करने का मुहूर्त देखता रहेगा। इस तरह सेर के सामने सवा-सेर का न्याय चलता ही रहेगा। कोई भी पार्थिव शक्ति ऐसी नहीं है कि जिसके सामने उससे भी बढ़कर शक्ति पैदा हो न सके—"तिमिंगिल गिलोऽप्यस्ति, तद् गिलोऽप्यस्ति राघवः"। (बड़े बड़े जहाजों को निगल जाने वाले मत्स्य को 'तिमि' कहते हैं, 'तिमि' को भी विना काटे योंही निगल जाने वाल एक महा-मत्स्य है, जिसे 'तिमिंगिल' कहते हैं। उसे भी खा जाने वाला

'तिमिंगिल गिल' है। और उसे स्वाह करने वाला जो विराट् मत्स्य है, उसका नाम है राघव।) इस तरह वड़े को खाने वाला सवाई-बडा दुनिया में पैदा होता ही है।

इसलिये यह एक दूसरे को खाने का मार्ग ही छोड देना चाहिये। इतनी दूरदर्शिता इस युद्ध के अन्त मे मनुष्यजाति मे आने वाली ही है। मनुष्य चाहे जितना उन्मत्त हुआ हो, पागल हुआ हो; सर्वनाश का समय ही ऐसा है, जब उसकी दृष्टि निर्मल होती है, और वह आगे का रास्ता ढूढ निकालता है। व्यक्ति का नाश हो सकता है, जाति का नहीं। सर्वनाश के किनारे पहुंचते ही मनुष्यजाति की आँखें खुल जायँगी, और वह अहिंसा को समझने लगेगी, यही हमारा विश्वास है। इस विश्व-विप्लव की तरफ अगर इतिहास की दृष्टि से देखा जाय तो इसके अन्त मे सर्वनाश ही ध्रुव है। किन्तु अगर आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाय तो इसके अन्त मे महान् पश्चात्ताप, आत्म-शुद्धि और सर्वोदय-कारी अहिंसा की विजय है।

शर्त इतनी ही है कि ऐसे कल्पांतिक क्षण में अहिंसा पर विश्वास रखने वाली कम से कम एक जाति हो, जो अपनी श्रद्धा को न खो कर अहिंसा को ही पकड़ रखे और उसी के हाथ में अपने को सौंप दे।

'मारना' व 'मरण देना'

[श्री काका कालेलकर]

[श्री काका साहब का नीचे लिखा पत्र श्री घनश्यामदासजी बिरला से हमने प्रकाशनार्थ ले लिया है। पत्र पढ़ने से स्पष्ट है कि यह प्रकाशन के लिए नहीं लिखा गया था। अगर काका साहब के बस की बात होती तो वे इसे प्रकाशित ही नहीं करते। लेकिन हमारे आग्रह से उन्होंने सकोच के साथ इसे छापने की इजाजत दी है।

काका साहब लिखते हैं कि कलकत्ते में जब उन्होंने श्री बिरलाजी के "बापू" के प्रूफ पढ़े तब उसमें से बछड़ा-प्रकरण को लेकर उन्होंने वहाँ के पर्युषण पर्व में अहिंसा का विवेचन करते हुए उस प्रकरण का समर्थन किया था। जो समाज श्री दरबारीलालजी और मुनि जिनविजयजी की अहिंसा की कल्पना हजम कर सका, वही बछड़े के बारे में साबरमती के तट पर किए गये शुद्ध अहिंसा के प्रयोग का समर्थन सुन कर काफी उत्तेजित हो उठा। जैनियों की अहिंसा मानों पशु-पक्षी और कृमि-कीट को न मारने तक ही सीमित है। काका साहब इस प्रकरण को फिर से छेड़ना नहीं चाहते थे क्योंकि आज उसका कोई प्रसग या प्रयोजन नहीं है और नाहक का वाद-विवाद वे पसन्द नहीं करते हैं। किन्तु इस पत्र के छपने से शायद यह चर्चा फिर से छिड़ उठे। उसे टालने के लिए उन्होंने हमारे द्वारा पाठकों से प्रार्थना की है कि उनका यह पत्र पढ़ कर उनकी दृष्टि अगर पाठक समझ सकें तो आनन्द की बात है। अन्यथा पाठक इस बछड़ा-प्रकरण को भूल जायँ और दुनिया में जो मनुष्य-सहार आज चल रहा है, उसे बन्द करने के मूलग्राही इलाज की बात सोचें।

—सम्पादक, 'जीवन-साहित्य']

(१)

जैसा कि मैंने कलकत्ते में आप से कहा था आपकी हिंसा-अहिंसा का आधार आपने गीता से लिया है और वह भी लोकमान्य के गीता-रहस्य से, और उसी की कसौटी पर आप गांधीजी की अहिंसा को कसते हैं। गांधीजी की अहिंसा समझने के लिये गीता की अहिंसा से आरम्भ नहीं करना चाहिये। बापू जी भले ही गीता को अपना जीवन-कोष कहें और अपनी अहिंसा पूर्ण रूप से गीता में पावें किन्तु उनकी अहिंसा उनकी अपनी है। भारत के किसी भी धर्म या पंथ में वह पूर्णतया नहीं पायी जाती। हो सकता है कि बापू जी की अहिंसा उन्हें सीधी भारतवर्ष के हृदय से ही मिली हो।

गीता की अहिंसा, जैनियों की अहिंसा, गौतम बुद्ध का अवैर का सिद्धान्त, टॉल्सटॉय का अप्रतिकार, 'क्वेकर' लोगों का शान्तिवाद (Pacifism) और बापू जी की अहिंसा इन सब में साम्य है जरूर, लेकिन, बापू जी की अहिंसा जैसी है, वैसी औरों के उपदेशों में नहीं पाई जाती है। वह उनकी एकदम निजी— बिल्कुल मौलिक चीज है और जीवनानुभव से विकसित हुई है। बापू जी की अहिंसा एक महान् निर्भय, अजातशत्रु विश्व-प्रेमी की अहिंसा है। वैदिक और यौगिक मैत्री-करुणामुदिता के रूप की है। अगर उसके लिए गीता का कोई श्लोक उपयुक्त है तो वह है :—

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो यातिपरां गतिम्॥
—गीता १३-२८

बापू जी की अहिंसा उनके व्यावहारिक और अमली अद्वैत से उत्पन्न हुई है। मैंने देखा है कि उनमें किसी के लिये द्वेष तो पैदा होता ही नहीं। और किसी का अधःपात देखते ही वे मानों अपना ही अधःपात हो रहा है, ऐसी आत्मीयता से अस्वस्थ और दुःखी हो जाते हैं।

(२)

अहिंसा के इस अद्वितीय आधार से हम बछड़े के प्रकरण पर विचार करें। आपने अपने विवेचन मे इस भूमिका को ग्रहण किया है कि जो स्थितप्रज्ञ है, वही बछड़े का खून कर सकता है। गीता का जो श्लोक है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥

उसी के आधार पर आपने बछड़ा-प्रकरण का ऊहापोह किया है। मेरा ख्याल है कि इस सब घटना का सारा किस्सा दूसरी ही दृष्टि से देखना चाहिये। जब बछड़े की हर तरह से सेवा कर लेने के बाद भी साफ दिखाई दिया कि यह बछड़ा बचने वाला नहीं है और अब केवल मरण की वेदना का ही अनुभव कर रहा है, तब बापू जी ने केवल शुद्ध

दया भाव से प्रेरित होकर उस बेचारे के दुख का अन्त करने का निश्चय किया। पूज्य बापू जी ने अपना निश्चय प्रकट करके हम आश्रमवासियों की भी राय पूछी। हममे से किसी का यह दावा था ही नहीं कि हम स्थितप्रज्ञ हो चुके हैं। मैंने पूज्य बापू जी से कहा कि अपनी राय देने के पहले मुझे गोशाला मे जाकर बछड़े की हालत अपनी आँखों से देखनी चाहिये। जब मैं गोशाला पहुचा तब बछड़ा असह्य वेदना से संज्ञाहीन हो कर निश्चेष्ट पड़ा था। पहले तो मैंने समझा कि बेचारा सो रहा है, इसे जहर देने की क्या आवश्यकता है ? पर थोड़ी देर में ही उसकी वेदना उठ खड़ी हुई। जमीन पर पड़ा पडा वह अपने पैर पटकने लगा। उसकी वेदना चुपचाप देखते रहना भी क्रूर कर्म था। मैंने तुरन्त अपनी राय दी कि बछड़े को 'मरण' देना ही चाहिए।

किसी को 'मारना' एक चीज है, 'मरण देना' दूसरी चीज है। प्यासे को हम पीने के लिए पानी देते हैं, भूखों को अन्न देते हैं, डरे हुए को आश्वासन देते हैं, बीमारों को दवा देते हैं; इसी तरह जिसे अन्तिम वेदनाएँ होती हों, उसको उसी के हित के लिए हम मरण और शान्ति देते हैं। मरण देकर ही हम उसे (दुःख से) बचा सकते हैं।

ऐसी समाज-सेवा करना, अपना उत्तरदायित्व समझने

वाले हरएक विचारवान सज्जन का धर्म है। इस धर्म के पालन के लिये स्थितप्रज्ञ की ऊंचाई तक पहुंचने की आवश्यकता ही नहीं है। जिस तरह आजकल के दन्त-वैद्य सलाह देते हैं कि हमारा दांत ठीक हो सकता है या उसे निकाल ही देना पड़ेगा, या जिस तरह डाक्टर राय देता है कि सड़ा हुआ पांव दवा से ठीक हो जायेगा या उसे काटना ही होगा। उसी तरह अमुक शरीर बच सकता है या उसे तो मरण देना ही श्रेयस्कर है, यह भी कोई सुयोग्य डाक्टर मरीज के स्नेही साथियों या सगे-सम्बन्धियों के साथ सलाह करके निश्चित कर सकता है। जब शरीर के टिकने की आशा ही न रही तब वेदना सहन करने देने की अपेक्षा उसे मरण देकर शान्ति देना ही अधिक अच्छा है।

निस्सन्देह कभी-कभी ऐसे निर्णय में भूल भी हो सकती है। लेकिन, भूल तो दवा करने में या नश्तर लगाने में भी हो सकती है। भूल होने के डर से अगर हम चिकित्सा ही न करें, तो वह सब से बड़ी भूल होगी।

बालकों के लिए माँ-बाप ही निश्चय कर सकते हैं कि दवा दी जाय या नहीं। पशुओं के बारे में उनके पालक ही फैसला कर सकते हैं कि अमुक पशु को मरण देने की आवश्यकता है या नहीं।

मनुष्य प्राणी के लिए मरण का निश्चय करने के पहले हम

मरीज से पूछ सकते हैं और वह भी स्वयं अपनी इच्छा व्यक्त कर सकता है। पशुओं के प्रति हम इतने नाजुक होकर सोच नहीं सकते। अच्छे समाज में अपना उत्तरदायित्व समझ कर मरण देने की बात उतनी ही स्वाभाविक और साधारण होनी चाहिये जितनी कि आहार, दवा और आराम देने की बात होती है।

किसी प्राणी का देहान्त होना कोई बड़ा अनिष्ट है, ऐसा हम क्यो मानें ? जैसे जीने के लिए हम मदद करते हैं, वैसे ही मरण पाने मे भी मदद हो सकती है।

आज की दुनिया मे जैसे लोभ, ईर्षा, मत्सर, द्वेष आदि वेहद वढ गये हैं, उसी तरह जीने-जिलाने का मोह भी हद से ज्यादा हो गया है।

(३)

हिंसा करते समय मनुष्य किसी के अस्तित्व से ऊब जाता है या डर जाता है और उसे खतम करने में अपना लाभ देखता है। मरण देने मे शुद्ध दया-भाव और सेवा-भाव ही होता है। इस कर्तव्य के पालन के लिए एक क्षण की भी स्थित-प्रज्ञ अवस्था तक पहुचने की आवश्यकता नहीं है। किसी के ऐसे मरण की जिम्मेदारी अपने सिर पर लेना कोई असाधारण वात नहीं होनी चाहिए। इतनी हिम्मत कोई भी विचारवान आदमी कर सकता है।

कुछ लोग कहते हैं कि मृत्यु एक ऐसी आत्यंतिक वेदना है कि उसके सामने साधारण सी वेदना तो कोई चीज ही नहीं है। लेकिन उससे यह नहीं सिद्ध होता कि मरण देने से हम उस प्राणी की वेदना को बढ़ा रहे हैं। अगर मृत्यु में आत्यन्तिक वेदना है तो हम उसे किसी भी हालत में टाल नहीं सकते। मरण दो घंटे जल्दी देने से जीवन-द्रोह नहीं होता है और बेचारे प्राणी की वेदना भी हम कुछ घंटे कम कर सकते हैं।

मेरी समझ में मेरी विचार-प्रणाली स्वाभाविक और सहज ग्राह्य है। मनुष्यजाति में मरण के बारे में जो कायरता आ गई है उसी के कारण उक्त विचार भयानक सा प्रतीत होता है। हम मरण की जिम्मेदारी ले नहीं सकते, ऐसा कहना उसी कायरता का एक भिन्न रूप है।

इस दृष्टि से सोच कर बछड़ा-प्रकरण का अपना विवेचन कृपया फिर से पढ़ें। 'यस्यनाहंकृतोभावो' गीता का यह श्लोक किसी का घात करने की—वध करने की इच्छा के साथ जाता है। बछड़ा-प्रकरण में तो केवल अन्तिम वैधक सहायता देने का ही सवाल था।

---

* 'विश्व-विप्लव और अहिंसा' विषय पर भाषण देते हुए श्री काका साहब ने महात्मा गांधी के बछड़ा-प्रकरण का अहिंसा की दृष्टि से समर्थन किया था, जिस पर कुछ श्रोता उत्तेजित हो उठे थे। जैसा कि इस पुस्तक के प्राक्कथन में कहा जा चुका है, श्री काका साहब ने

उस समय अपनी बात का स्पष्टीकरण करते हुए यह वादा किया था कि वे बाद में इस विषय पर लेख द्वारा विवेचन करेंगे जिससे लोगों को गम्भीरता पूर्वक सोचने की सामग्री और मौका मिलेगा। चूँकि श्री काका साहब ने बिड़लाजी को लिखे हुए इस पत्र में उस प्रकरण का विवेचन किया है, इसलिये इस पत्र का आवश्यक अंश 'जीवन साहित्य' से उसकी सम्पादकीय टिप्पणी सहित हमने यहां दिया है। इस पुस्तक में छपने से पहले श्री काका साहब ने 'जीवन-साहित्य' मे छपे हुए पत्र को फिर से देख लिया है।—मंत्री

तरुण जैन संघ

का

विधान

नाम

१—इस सस्था का नाम 'तरुण जैन सघ' होगा।

कार्य-क्षेत्र

२—इस सस्था की प्रवृत्तियों का केन्द्रीय कार्य-क्षेत्र कलकत्ता होगा, किन्तु आवश्यकतानुसार कार्य-समिति उसे भारत के अन्य स्थानों में भी फैला सकेगी।

उद्देश्य

३—इस सस्था के उद्देश्य निम्न लिखित होंगे—

(क) धार्मिक पक्षापक्ष व साम्प्रदायिक भेद-भाव से मुक्त जैन युवकों का सगटन करना और उनमें आपस में प्रेम, सद्भाव और सहयोग की भावना उत्पन्न करना।

(ख) जैन समाज की प्रगति मे बाधक होने वाले सामाजिक और 'धार्मिक' वहम तथा अन्धविश्वास, विचार-सकीर्णता एव

रूढ़िजन्य जड़ता का विरोध करना तथा उनको समाज पर लादनेवाली हरेक प्रकार की प्रतिगामी सत्ता के साथ असहयोग करना।

(ग) जैन समाज में घुसी हुई वर्तमान धर्मान्धता, जात्यन्धता और सम्प्रदायान्धता को दूर कर उसमें स्वतन्त्र विचारणा, प्रगतिशील चिन्तन और विशाल, उदार एवं व्यापक दृष्टि उत्पन्न करना।

(घ) समाज-व्यवस्था तथा राज-व्यवस्था में जिन मौलिक परिवर्तनों की आवश्यकता है, उनके सम्बन्ध में लोक-शिक्षण के विविध साधनों द्वारा विचार-जागृति उत्पन्न करना।

(ङ) जन-सेवा तथा सत्य और अहिंसा के लोक-विधायक रचनात्मक कार्यक्रम की सफलता में योग देना एवं जैन समाज के युवकों में उसका प्रचार करना।

(च) देश में जो राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और स्वावलम्बन की नाना प्रवृत्तियाँ चल रही हैं, उनमें योग देना और समाज में उन प्रवृत्तियों का प्रचार करना जिनके द्वारा विचारों के विकास, रूढ़ि के विनाश और क्रान्ति के विस्तार की भावना को उत्पन्न होने और पुष्ट होने में मदद मिले।

सदस्यता के नियम

४—जैन समाज का प्रत्येक युवक और युवती, जिसकी उम्र सोलह वर्ष से ऊपर की हो, नियमानुसार चुने जाने पर इस संस्था का सदस्य

हो सकता है। प्रत्येक सदस्य को निम्न लिखित बातों का पालन करना होगा—

व्यक्तिगत

(१) वह आदतन खादी या कम से कम स्वदेशी वस्त्र का व्यवहार करेगा और अन्य वस्तुओं में भी हाथ से बनी चीजों का ही व्यवहार करने की कोशिश करेगा।

(२) व्यापक दृष्टि से सत्य और अहिंसा की साधना में विश्वास रखेगा और तत्सम्बन्धी रचनात्मक कार्यक्रम की एक अथवा अधिक प्रवृत्तियों में क्रियात्मक रूप से भाग लेना अपने जीवन का अंग बनावेगा।

(३) संघ के उद्देश्यों में पूरा विश्वास रखेगा और उनकी पूर्ति के लिए जो प्रवृत्तियां चलाई जायेंगी तथा जो नियम बनेंगे, उनकी सिद्धि में योग देगा।

(४) किसी सामाजिक अथवा धार्मिक प्रश्न पर सम्मति प्रकट करने की आवश्यकता होने पर वह अपनी निरपेक्ष राय और धारणा निस्संकोच प्रकट करेगा।

(५) वह किसी सार्वजनिक संस्था में खुशामद तथा दूसरे अनुचित उपायों से अधिकार हासिल करने की हरगिज़ कोशिश नहीं करेगा और सत्य और अहिंसा के लिये चाहे जितने महत्त्व की जगह छोड़ देने को तैयार रहेगा।

सामाजिक

(६) समाज में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के तत्त्व को मात्रा कायम रखने का समर्थक होगा और उसको कुचलने वाले कार्यों का विरोध करेगा।

(७) सामाजिक जीवन के किसी भी क्षेत्र में वह स्त्री को हीनता का समर्थक नहीं होगा।

(८) जाति-बंधन और जाति-बहिष्कार के दुरुपयोग के और अस्पृश्यता, अनुचित विवाह-सम्बन्ध, पर्दा आदि अनिष्टकारी सामाजिक कुरीतियों के विच्छेद का प्रयत्न करेगा।

(९) किसी स्त्री के पति की मृत्यु हो जाने पर उसके लिए वैधव्य-पालन अनिवार्य नहीं समझेगा और उसके पुनर्विवाह का समर्थक होगा।

(१०) वह ऐसे विवाह में भाग नहो लेगा, जिसमें लड़के की आयु १८ वर्ष से और लड़की की आयु १४ वर्ष से कम होगी।

धार्मिक

(११) वह अपने को किसी सम्प्रदाय विशेष का अन्धानुयायी न मान कर जैन धर्म का अनुयायी मानेगा।

(१२) वह सभी धर्मों की उत्कृष्टताओं का समर्थक और सभी की बुराइयों का आलोचक एवं विरोधी रहेगा।

(१३) यदि कोई धार्मिक कहा जाने वाला वहम, विचार अथवा रूढि देश और समाज की प्रगति और उत्कर्ष में बाधक

होगी, तो वह उसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन अथवा उसका उच्छेद कराने का प्रयत्न करेगा और ऐसा करने में वह शास्त्रोक्त विधि-निषेध की परवाह नहीं करेगा, और उस सम्बन्ध में अपने विचार खुलासा प्रकट करेगा।

(१४) वह मन्दिरों में बढे हुए आडम्बर और शृंगार-वृत्ति का विरोध करेगा और इस बात का समर्थन और प्रचार करेगा कि देवद्रव्य का उपयोग जन-कल्याण के कार्यों में किया जाय।

(१५) मन्दिरों और तीर्थों की दुर्व्यवस्था का विरोध करेगा और उसको मिटाने की चेष्टा करेगा।

(१६) साधु-संस्था के सम्बन्ध में वह विभिन्न सम्प्रदायों के वेश-भेद को जरा भी महत्त्व नहीं देगा, वरन् जिस भी साधु का जीवन और कार्य-कलाप समाज के लिये उपयोगी जान पड़ेगा, उसको इस संघ का सदस्य आदर योग्य गिनेगा, बाकी सभी सम्प्रदायों के साधुओं की, जो प्रगति-विरोधी विचारों वाले हैं और समाज के लिये जिनका जीवन निरुपयोगी है, समान रूप से उपेक्षा करेगा और यथावश्यक आलोचना करने को तैयार रहेगा।

राजकीय

(१७) वह सत्य और अहिंसा के मार्ग से स्वतन्त्रता-प्राप्ति के ध्येय को स्वीकार करेगा और तत्सम्बन्धी राष्ट्रीय महासभा के विविध कार्यक्रम में यथा-सम्भव सहयोग देगा।

(१८) संघ का कोई सदस्य व्यक्तिगत, सामाजिक अथवा 'धार्मिक' दृष्टि से भी कोई ऐसा कार्य नहीं करेगा जिससे राष्ट्र-हित में बाधा पहुंचती हो। अर्थात् वह राष्ट्र एवं विशाल समाज के हित को प्राधान्य देगा।

(१९) जाति, प्रांत, सम्प्रदाय, भाषा वगैरह के सब तरह के संकरे दुरभिमानों से वह बिलकुल बरी रहेगा।

(२०) जाति, धर्म अथवा सम्प्रदाय के नाते वह राजनीति में विशेषाधिकार की नीति का समर्थक नहीं होगा और इस तरह के अधिकारों के किसी आन्दोलन में किसी तरह का सहयोग नहीं देगा।

उद्देश्य-पूर्ति के साधन

५—संघ के उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिये निम्न साधन काम में लाये जायेंगे—

(१) पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं तथा दूसरे प्रकार के साहित्य का प्रकाशन और प्रचार।

(२) वाचनालय, पुस्तकालय, शिक्षण-केन्द्र, व्यायामशालाओं और अन्य प्रवृत्तियों की स्थापना और संचालन।

(३) विद्वानों के भाषणों, महापुरुषों की जयंतियों और व्याख्यान-माला आदि अन्य उपयोगी समारोहों का आयोजन।

(४) दूसरे ऐसे साधनों का निर्माण और उपयोग, जो कार्य-समिति द्वारा समय समय पर निश्चित किये जायँ।

सदस्य होने का तरीका

६—संघ का सदस्य होने के लिये इच्छुक व्यक्ति को कार्य-समिति द्वारा निर्धारित आवेदन-पत्र भर कर प्रवेश-शुल्क के साथ संघ के मंत्री के पास भेजना होगा। मंत्री उस पत्र को कार्य-समिति के सामने पेश करेगा, और कार्य-समिति उस पर निर्णय करेगी। उस निर्णय की सूचना प्रवेश-पत्र भरने वाले व्यक्ति के पास भेज दी जायगी।

वर्ष

७—संघ के कार्य-विवरण और हिसाब आदि के लिये वर्ष १ जुलाई से ३० जून तक समझा जायगा।

शुल्क

८—प्रत्येक सदस्य को नीचे लिखे माफिक शुल्क संघ को देना होगा—

(क) प्रवेश-शुल्क रु० २), जो आवेदन-पत्र के साथ देना होगा।

(ख) मासिक शुल्क रु० १), जो प्रति मास की समाप्ति पर भेज देना होगा।

वार्षिक साधारण अधिवेशन

९—वर्षांत के बाद तीन महीनों के अन्दर किसी दिन, जिसका निर्णय कार्य-समिति करेगी, संघ का वार्षिक साधारण अधिवेशन होगा जिसमें निम्न कार्यवाही की जायगी—

(क) गत वर्ष का कार्य-विवरण और हिसाब स्वीकृति के लिये पेश किया जायगा।

(ख) आगामी वर्ष के लिये पदाधिकारियों और कार्य-समिति के सदस्यों का निर्वाचन होगा।

(ग) सघ के विधान मे यदि कोई परिवर्तन, सशोधन आदि कार्य-समिति पेश करेगी, तो उस पर विचार और निर्णय होगा।

[नोट—वार्षिक अधिवेशन मे केवल कार्य-समिति द्वारा पेश किये हुए सशोधनों पर ही विचार होगा, इसलिए सदस्यगण चाहे तो अपनी तरफ के सशोधन कार्य-समिति के पास वार्षिक अधिवेशन की तिथि से दो सप्ताह पहले तक भेज दें।]

कार्य-समिति और पदाधिकारी

१०—सघ के पदाधिकारियो और कार्य-समिति का सगठन निम्न प्रकार होगा—

(क) अध्यक्ष (ख) उपाध्यक्ष (ग) मत्री (घ) छ अन्य सदस्य।

पदाधिकारियो और कार्य-समिति के सदस्यों का चुनाव सघ के वार्षिक साधारण अधिवेशन में होगा।

कार्य-समिति के अधिकार

११—सघ के उद्देश्यो और नियमों के अनुसार सम्पूर्ण कार्यवाही का सचालन करने, आय-व्यय का नियन्त्रण करने और सघ के अन्तर्गत होने वाली प्रवृत्तियो का उत्तरदायित्व सभालने का भार सघ की कार्य-समिति पर होगा।

कार्य-समिति के नियम

१२—कार्य-समिति के निम्न लिखित नियम होगे—

(१) कार्य-समिति की कम से कम एक बैठक प्रति मास हुआ करेगी।

(२) हरेक बैठक में तीन सदस्यों का कोरम समझा जायेगा।

(३) प्रत्येक बैठक की सूचना सदस्यों को कम से कम दो दिन पहले भेज दी जायेगी।

(४) वर्ष के बीच में कार्य-समिति में कोई स्थान रिक्त होने पर सघ के साधारण सदस्यों में से कार्य-समिति उस स्थान की पूर्ति कर लेगी।

पदाधिकारियों के अधिकार

१३—पदाधिकारियों के अधिकार निम्न प्रकार होंगे—

अध्यक्ष—सघ के अध्यक्ष सघ की साधारण सभा के तथा कार्य-समिति के अधिवेशनों के सभापति होंगे और सघ के नियमानुसार कार्यवाही का सचालन करेंगे।

उपाध्यक्ष—अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष कार्य-समिति तथा साधारण सभाओं की बैठकों में अध्यक्ष के अधिकारों और उत्तरदायित्व का पालन करेंगे।

मंत्री—सघ का मत्री सघ के उद्देश्यों, नियमों और कार्य-समिति के निश्चयों के अनुसार सघ की विभिन्न प्रवृत्तियों का सचालन करेगा। अध्यक्ष की सहमति से साधारण सदस्यों की तथा कार्य-समिति की बैठक निमन्त्रित कर सकेगा। सघ की आमदनी और खर्च की सारी व्यवस्था कार्य-समिति की सूचना के अनुसार करेगा। सघ की तरफ से पत्र-व्यवहार, लिखा-पढ़ी तथा प्रकाशनादि करने का उत्तरदायित्व मत्री पर होगा।

साधारण सभा के नियम

१४—साधारण सभा के निम्न लिखित नियम होंगे —

(क) संघ की किसी भी साधारण या असाधारण सभा में कम से कम ७ सदस्यों की उपस्थिति कार्य-साधक संख्या (quorum) समझी जायेगी। कोरम पूरा न होने पर वह सभा स्थगित हो जायेगी, किन्तु उस स्थगित सभा की बैठक होगी, तो उसमें कोरम का बंधन नहीं रहेगा।

(ख) साधारण सभा की सूचना सदस्यों को कम से कम तीन दिन पहले भेज दी जानी चाहिए।

(ग) किसी प्रश्न पर विचार करने के लिये यदि संघ के कम से कम ११ सदस्यों का लिखित पत्र मंत्री के पास साधारण सभा बुलाने के लिए आयेगा, तो मंत्री को उस दिन से १५ दिन के भीतर भीतर साधारण सभा बुलानी होगी। इस समय के भीतर वह सभा नहीं बुलायेगा, तो पत्र भेजने वाले सदस्यों को साधारण सभा बुलाने का अधिकार होगा। यदि इस सभा में साधारण सभा की कोरम संख्या पूरी नहीं होगी, तो वह पत्र requisition रद्द हुआ समझा जायेगा। सभा में केवल उन्हीं प्रश्नों पर विचार हो सकेगा, जो मंत्री के पास भेजे हुए पत्र (requisition) में उल्लिखित होंगे।

सदस्यता-विच्छेद

१५—कार्य-समिति को यह भी अधिकार होगा कि वह किसी सदस्य

का नाम संघ की सदस्य-सूची से हटाना चाहे, तो बिना कारण बताये वैसा कर दे।

विधान में संशोधन

१६—संघ के विधान में परिवर्तन या संशोधन संघ के वार्षिक अधिवेशन में उपस्थित सदस्यों के कम से कम तीन-चौथाई बहुमत से हो सकेगा।

मुखपत्र और अन्य प्रकाशन

१७—(क) 'तरुण जैन' संघ का मासिक मुखपत्र होगा, जिसका उद्देश्य संघ की नीति के अनुकूल विचारों का पोषण और प्रचार करना होगा। इसके सम्पादक या सम्पादकों का निर्वाचन संघ की कार्य-समिति द्वारा किया जायेगा। पत्र के नियम, नीति और सारी व्यवस्था की जिम्मेदारी और सत्ता सम्पादकों के हाथ में होगी परन्तु कार्य-समिति का निर्णय उन्हें सर्वदा मान्य होगा।

(ख) संघ के प्रत्येक सदस्य को मुखपत्र की एक प्रति निःशुल्क मिलगी।

(ग) संघ समय समय पर जो दूसरे प्रकाशनादि करेगा, उसकी भी एक एक प्रति संघ के सदस्यों को आधे मूल्य में प्राप्त हो सकेगी।